कीर्तन
तथा अन्य कहानियाँ

राजेन्द्र राव

ऋषभचरण जैन
एवं सन्तति
श्रेष्ठ हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशक

कीर्तिन तथा अन्य कहानियां

कीर्तन

तथा अन्य कहानियां

राजेन्द्र राव

ऋषभचरण जैन एवम् सन्तति
नई दिल्ली-११०००२

प्रकाशक : दिग्दर्शन चरण जैन
ऋषभचरण जैन एवम् सन्तति

संस्करण : १६८८

मूल्य : ३५.००

मुद्रक : पारस प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

KIRTAN TATHA ANYA KAHANIYAN by
Rajendra Rao
Price Rs. 35.00

प्रकाशकीय

बहुत तेज़ी से कथा-जगत में विशिष्ट स्थान सुरक्षित कर लेने वाले इस युवा कथाकार की कहानियों की प्रमुख विशेषताएं हैं उनकी सूक्ष्मता और गहनता। विद्रूप और अवसंगत स्थितियों की पराकाष्ठा तक पहुंची हुई कहनियां 'कीर्तन' और 'व्यूह' को लीजिए—निरंतर सेंसिबिलिटीज को ठोकर मारती हुई चलती हैं और साथ ही, भयावह! तेज़ छेड़छाड़ से तली हुई हैं। 'शिफ्ट', 'वेटिंगरूम' और 'त्राण' में मानवीय त्रासदी का धारदार अंकन है और यातनाओं के नैरंतर्य की दुर्वहता है। 'जाला', 'पहला दिन' और 'शत्रु' में मानवीय सम्बन्धों, नजाकत और नियति का निर्ममता और ठंडी तटस्थता से चित्रण हुआ है। इन सब कहानियों को पढ़कर सुखद अनुभूति होती है, क्योंकि ये जीवन के गंभीर अनुभवों की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं। अपने परिवेश के प्रति अत्यधिक सक्रिय सजगता और अभिव्यक्ति में बरती गई कोल्ड-ब्लडेड प्रखरता की वजह से राजेन्द्र राव अपने समकालीन युवा लेखक से अलग-थलग और दो कदम आगे पड़ जाते हैं।

क्रम

शिफ्ट

खेतों के बीच से गुजरते समय हम काफी चिढ़े हुए थे।

बाहर कदम रखते ही कँपकँपा देने वाला एक सर्द झोंका महसूस हुआ। फर्लांग भर की दूरी पर प्लांट जगमगा रहा था। पीछे पीली कोठी थी, अँधेरे में लिपटी। उस रात बाहर जाने वाले हम आखिरी लोग थे। स्टेशन पार एक पूरी बस्ती सो रही थी। रजाइयों और कम्बलों में हल्की-हल्की गर्मी लेते हुए लोग हमारे आक्रोश का शिकार बन रहे थे। चंदा तो लगातार गालियाँ दिये जा रहा था। हमारे दस्तानों और कोट के रोयों पर नमी जमने लगी थी। धीरे-धीरे हम प्लांट के दायरे में पहुँचते गए।

रात को गेट नम्बर दो खुला रहता है। वहाँ कुछ चहल-पहल थी। शिफ्ट बदलने वाली थी। आते-जाते वर्कर दिखाई दे रहे थे। गेट के नजदीक वाच एण्ड वार्ड वालों ने आग जलाई हुई थी और कई आदमी आग ताप रहे ते। हमने भी वहाँ से गुजरते समय आग को हसरत भरी निगाह से देखा।

टाइम आफिस में, खिड़की के पास गुप्ता अकेला बैठा था। उसने मफलर को कसकर चेहरे के गिर्द बाँधा हुआ था। वह खिड़की से वर्करों के कार्ड ले रहा था। हमें देखकर उसने सलाम किया और खीसें निपोरीं। उसने वही मैला चीकट गैबरडीन का सूट पहना हुआ था, जो शायद दो साल पहले शादी के मौके पर सिला गया था। उसकी नाक के बाल काफी

बड़े थे—बाहर तक निकले हुए। इसलिए मैं नजर बचाए, हाजरी के रजिस्टर में दस्तखत करता रहा। चंदा उसकी खिचाई कर रहा था। वह रात भर यहाँ शिफ्ट में रहेगा —"उसकी जवान बीवी रात कैसे गुजारेगी ?"—चंदा परेशानी ज़ाहिर कर रहा था। गुप्ता मूर्खतापूर्ण हँसी हँसता रहा और हाथ मलता रहा। वह चंदा से बहुत डरता था। जाने क्यों।

इस बीच मेरी शिफ्ट का इंस्पेक्टर हमारी टार्चें और थरमस उठवा कर प्लांट पर ले गया।

दोनों प्लांट समानांतर और एक जैसे थे। सिर्फ उम्र का फर्क था —प्लांट टू साल भर बाद लगा था। दोनों प्लांटों के बीच जहाँ सीमेंट-एस्बेस्टॉस की शीट चिपकाए नालीदार टेम्पलेट ट्राली पर आकर गिरती थी, वहीं शिफ्ट इंचार्ज बैठा करते थे। शिफ्ट की महत्वपूर्ण गतिविधियाँ यहीं से देखी जा सकती थीं। चार्ज लेते समय अकसर गरमा-गरमी हो जाया करती थी, परंतु हमने निहायत खामोशी से चार्ज लिया। प्लांट की जनरल कंडीशन संतोषजनक थी। पहले की शिफ्टों का प्रोडक्शन अच्छा रहा था। चार्ज लेने के बाद, हम लोग शर्मा और भारद्वाज को विदा करने बाहर तक गए। उनके जाने के बाद चंदा ने कोट की जेब टटोलकर कुछ मूँगफलियाँ निकालीं और हम चबाते हुए अंदर लौट आए।

सब अपनी-अपनी जगह ले चुके थे। कम्प्रेशन की धड़धड़ाहट, वैक्यूम रिलीज होने की सूँ-सूँ और गिरती टेम्पलेटों की झनझनाहट। यह लगातार था। चंदा प्लांट टू पर था। टार्च जलाए फेल्ट और सीव-सिलिंडरों का निरीक्षण कर रहा था। अब यह ज़रूरी हो गया था कि मैं भी व्यस्त रहूँ। वह काफी सीनियर शिफ्ट इंचार्ज था उसके बैठने से पहले मुझे नहीं बैठना चाहिये था। मैं प्लांट का चक्कर लगाने लगा।

सामने शीशे की दीवारों वाला पैनल बोर्ड था। चारों तरफ से

बंद। गर्म और साउंड प्रूफ। अंदर घुसते ही पलकें भारी होने लगीं। न तो यहाँ गलाने वाली नम हवा थी, न ही कर्कश आवाजें। सनमाइका वाला निर्दोष लकड़ी का फर्श था। फर्श पर दोनों इलेक्ट्रीशियन सोये पड़े थे। मुझे अखरा परन्तु उन्हें जगाने को मन नहीं हुआ। मैं खुद सोच रहा था—थोड़ी देर यहाँ कुर्सी पर बैठे-बैठे सो लूँ। परन्तु ऐसा करना बुरा होता। मैं तेज कदमों से बाहर निकल आया और सीधे मेन ड्राइव के पास पहुँचा। वहाँ जमीन थरथरा-सी रही थी—नींद जाती रही।

एक बूस्टर पम्प लीक कर रहा था। मैंने इशारे से फिटर को बुलाया। वह शायद मेरे इशारे का ही इंतज़ार कर रहा था। तुरंत ग्लैंड टाइट करने लगा। मैं फाइबर मिल की ओर बढ़ गया। यह मिल एक पक्के, वृत्ताकार गढ़े की शक्ल में थी। दो बड़े-बड़े पत्थर के पाट कोल्हू के अंधे बैल की तरह चल रहे थे। इसमें फाइबर कुचला जाता था। पास ही आयातित एस्बेस्टॉस के बोरों का ढेर लगा था। यह बहुत मजबूत रेशा होता है। इसके कुचले जाने की जगह सोंधी-सोंधी गर्माहट फैली रहती थी। वहीं रेलिंग के सहारे खड़ा सिगरेट पीता रहा। बारह बजकर पैंतीस मिनट ही हुए थे। और आँखें जल रही थीं। दिन में ज़रा भी नहीं सो पाया था।

शाम होने तक तो पीते ही रहे थे। सरदार ने विजयसिंह को भेजकर मँगवाई थी। ड्राई-डे होने के बावजूद, मंगलवार को देसी मिल जाती थी। वैसे हरियाने की देसी शराब बुरी नहीं होती। खास तौर पर संगम। एक बोतल कब खत्म हो गई पता ही नहीं चला। दो बार मँगवाई गई। नीचे फ्लाश चल रहा था। कई बार बुलावा आया। परन्तु हम सीढ़ियों से लड़खड़ाते हुए उतरने के मूड में नहीं थे। सरदार अपनी थाईलैण्ड वाली पेनफ्रेंड के खत निकाल लाया। मैं गालिब की गजलें पढ़ने लगा। यह सिलसिला इस कदर बढ़ा कि हम आपे से बाहर हो गए थे। ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे थे। पहाड़ी खाना ले आया। अब यही हमारा इलाज था। खाने के बाद सरदार ने कहा भी—साले। आज तेरी नाइट

है। थोड़ी देर सो ले। परन्तु मैं कहाँ मानने वाला था।

रात के दस बजे जब आँख खुली तो देखा-फर्श पर खाली बोतलें, गिलास और थालियाँ—बिखरे हुए थे। सरदार थाईलैण्ड वाली का फोटो सीने से लगाए पड़ा था। जैसे-तैसे उसे उसके कमरे तक पहुँचाया। उसके बाद कपड़े पहनते और तैयार होते ग्यारह बज गए थे। ज़रा भी सोने का मौका नहीं मिल पाया था।

अभी तो सुबह तक ऐसे ही जागते रहना था। ऊपर चढ़ा जहाँ स्लरी बनती है। मिक्सिग ड्रम में सर्पिल-ब्लेंडों वाला चरखा, छींटें उचाटता चल रहा था। मैं उस ओर पीठ करके खड़ा हो गया। प्लांट पर, लोग यंत्रवत काम कर रहे थे। फेल्ट बराबर सीव सिलिंडरों और प्रेशर रोल्स के बीच दबता हुआ चल रहा था। आपरेटर की अभ्यस्त उंगलियाँ कंट्रोल बोर्ड के पुश बटनों पर चल रही थीं। फुर्तीले कटर बड़े ड्रम के दोनों ओर मुस्तैद खड़े थे। उनके हाथों में लकड़ी की तलवारें थीं। इस ड्रम पर फैल्ट से उतरी शीट की तहें जमती जाती थीं। छः राउंड पूरे होते ही दो लाल बल्ब जलते थे और लकड़ी की तलवारें तेज़ी से शीट को काट देती थीं। शीट रबर के कन्वेयर पर बिछती हुई आगे चली जाती। यह सब मैं ऊपर से देखता रहा—किसी घिसी-पिटी फिल्म की तरह।

मैंने देखा टाइम कीपर वर्करों की हाजिरी लेकर आ गया था। चंदा जाने कब का आकर अपनी सीट पर बैठ चुका था। मैं नीचे उतर आया।

हमारे आगे-पीछे कुल मिलाकर चार हीटर दहक रहे थे। यह चंदा की सूझबूझ थी—जाने कहाँ कहाँ से निकलवाए थे। बैठते ही बड़ी राहत मिली। मेरा दिन भर का थका बदन सर्दी में करीब-करीब सुन्न हो गया था। मैंने सोच लिया—अब चाहे जो हो जाए, उठूंगा नहीं। मुझे चंदा वगैरह पर इर्ष्या हो आई। ये पुराने जमे हुए लोग थे। सारी मुसी-

वत हम नये शिफ्ट इंचार्जों की थी। जिन्हें यहाँ आए कुछ ही महीने हुए थे। लोगों की राय थी कि हम लोग प्लांट को ठीक से नहीं चला पाते थे। मजे की बात यह थी कि प्रोडक्शन हमेशा हमारी शिफ्टों का अधिक होता था। प्रोडक्शन इंजीनियर एक सरदार था। मेरे तो बेहद खिलाफ। मैं चाहे कुछ भी करके दिखा देता परन्तु उसे मेरी योग्यता पर रत्ती भर विश्वास नहीं हो सकता था। मेरी मेज पर उसके लिखे दो पर्चे पड़े थे। दिन में लिख कर गया था—पिछली रात शिफ्ट में क्वालिटी बहुत पूअर रही थी, चारपरसेंट से ऊपर रिजेक्शन हुआ था। यही सोचकर कि उन पर्चों में यही सब होगा, मैंने नहीं पढ़े। चंदा ने पढ़ लिए थे। मेरे इस तरह देर तक बैठने का उसने सीरियस नोटिस लिया। "ही इज वेरी मच अगेन्स्ट यू।"—उसने कहा। मुझे हड़काने के लिए। मैं सुलग उठा। मैंने गुस्से में प्रोडक्शन इंजीनियर को एक भद्दी गाली दी। टाइम-कीपर हँस पड़ा। मैंने चुपचाप हाजिरी के रोल पर दस्तखत किये और उठकर मशीन पर चला गया।

टाइम कीपर के जाते ही चंदा ने ताली बजाकर इशारे से मुझे बुलाया और समझाने की कोशिश करने लगा। मुझे टाइम-कीपर के सामने उसे गाली नहीं देनी चाहिये। मेरी नौकरी तक खतरे में पड़ सकती थी। मैंने कोई जवाब नहीं दिया। जवाब बनता भी यही था कि अभी घंटे-दो-घंटे प्लांट पर मरते रहो और ये साला, सीनियर होने की वजह से आराम से बैठा रहेगा।

मैंने वही एक्टिंग शुरू की जो दिन की शिफ्ट होने पर हम नये लोगों को करनी पड़ती थी। बेहद व्यस्त नजर आना। मशीन की महत्वपूर्ण जगहों पर झाँकते घूमना, टार्च जला-जलाकर देखना, मशीन ड्राइवर को बार-बार बुलाना और फेल्ट की लाइफ के बारे में राय लेना वगैरह। लोग हमारी इन हरकतों को उपेक्षा से देखते थे।

कोई-कोई हरामी किस्म का मशीन ड्राइवर हमारी मासूम आबजर्वेशंस को जान-बूझकर सीरियसली लेने लग जाता। हम बेवकूफी में खुशी से फूल उठते और उल्टे-सीधे आदेश दे डालते। अपने हाथों से सीव में जाने वाला पानी बंद करने लगते, ताकि चमत्कारिक ढंग से प्लांट पाँच ही राउण्ड में चलने लगे। हमें लगता कि सब हमें देख रहे हैं, प्रभावित हो रहे हैं। थोड़ी ही देर में प्लांट की हालत बिगड़ने लगती। फैल्ट पर एक सार सतह जमने के बजाए फफोले उठने लगते। शीटें ड्रम पर चिपकने लगतीं। आपरेटर बार-बार कन्वेयर को रोक देता और उस पर फटी हुई शीटों का ढेर लगने लगता। कटर पहले शीट काटते, फिर फुर्ती से कन्वेयर पर से फटी शीट के टुकड़े उतार-उतारकर फेंकते। शिफ्ट के वर्कर शोर मचाते, और पसीने से नहाए—हम मूर्खतापूर्ण हरकतें करते, मानो स्थिति सँभाल रहे हों। थोड़ी देर बाद स्थिति सँभल भी जाती।

अपनी सीट से उठकर कुछ समय तक शीट की क्वालिटी देखता रहा। फिर फाइबर मैन के पास पहुँच गया। यह बड़ा चोर आदमी था। हमेशा अपनी लाग बुक में हेर-फेर किया करता। मैंने फाइबर के मिक्स्चर वाले एक बोरे का वजन चेक किया। सही था। उसे डाँटने का मौका ही नहीं मिला। वह अब, मुझसे बचाकर अपने हेल्परों को आँख मार रहा था। मैंने उसका पीछा छोड़ा।

फाइबर मिल के नीचे एक तहखाना था। यह शिफ्ट के चोरी से सोने वाले वर्करों का अड्डा था। कभी-कभी कुछ उस्ताद लोग यहाँ कच्ची उम्र के छोकरों को, जो अकसर हेल्पर होते थे, लेकर अन्दर सोये रहते थे। चंदा इन बातों को बहुत चेक करता था। कई बार उसने यहाँ लोगों को रँगे हाथों पकड़ा था। मेरी खुद की इच्छा थी—कभी इस तहखाने में किसी संदिग्ध जोड़े को पकड़ूं। परन्तु यह इच्छा कभी पूरी न हो सकी। मैं टार्च जलाकर नीचे उतरा। एक नया भर्ती हुआ छोकरा दुबककर सो रहा था। बिल्कुल गोलमोल होकर। उसका पाजामा पांयचे

के पास से लम्बा फटा हुआ था। घुटने से ऊपर तक उसकी टाँग दिख रही थी। सफेद त्वचा पर सर्दी से रोयें उठ आए थे। दाने दाने। मुझे बहुत अजीब लगा। उस पर दया भी आ रही थी। परन्तु उसका वहाँ सोना मुझे उचित नहीं लगा। मैंने घुटने से ऊपर छूकर उसे जगाने की कोशिश की। वह गहरी नींद में था। मैंने गर्म गोश्त में उँगलियाँ ज़ोर से गड़ाईं। आँखें मलता वह उठा और मुझे सामने देखकर सहम गया। मैंने उसे टार्च से ऊपर का रास्ता दिखाया।

बाहर आते ही वह जल्दी से काम पर लग गया। वह चन्दा के प्लांट का था। इससे पहले कि मैं और किसी तरफ जाता चन्दा ने मुझे बुला लिया। उसका मूड बदल चुका था। मेरे पहुँचते ही उसने अल्बर्टो मोराविया का उपन्यास जिसे वह पढ़ रहा था, ड्राअर में रख दिया। हम बातें करने लगे। सहसा वह बड़े नाटकीय ढंग से बोला—"शी वाज, माइन सेवेंटी एट्थ !" उस दिन सुबह ही वह दिल्ली चला गया था। इस सबका वह पूरा हिसाब रखता था। उसके पास एक डायरी थी, जिसमें उसके सफल कुँवारे जीवन का पूरा रिकार्ड उसने मेन्टेन किया हुआ था। टिक मार्क लगा-लगाकर। उस दिन उसके सैंतीस वर्षीय (कथित) जीवन की अठहत्तरवीं उसे मिली थी। इस मामले में वह झूठ नहीं बोलता था। एक दिन उसने हम सबको बेशुमार खरोंचें भी दिखाई थीं—उसके बाद किसी को अविश्वास नहीं रहा था।

हमने तै किया—खाने-पीने का सामान स्टेशन से मँगवाया जाए। कैंटीन बन्द हो गई थी। स्टेशन के टी-स्टाल पर घटिया किस्म की बेकरी के सख्त और बेमज़ा बिस्कुट, पाव रोटी, सस्ते-परतों वाले समोसे, क्रीम रोल और केले मिलते थे। एक आदमी भेजा गया। नाइट शिफ्ट में अगर मुँह चलता रहे तो अच्छा रहता है। नीद नहीं आती और वक्त कट जाता है। थरमस से एक-एक कप चाय हमने पी। चन्दा ने शायद मेरी आँखों की हालत देख ली थी। कुछ सोचकर उसने कहा—'चलो ! ऊपर कोनटैंक में वाटर लेवल देखने चलें।" सर्दी की उस भयानक रात

में दो-सौ फ़ीट ऊँचे जाकर वाटर लेवल देखने के ख्याल से ही थरथरी हो आती थी। परन्तु मैं अपनी तंद्रा तोड़ना चाहता था, इसलिए तैयार हो गया।

वहाँ तक पहुँचने के लिए लोहे की घुमावदार सँकरी सीढ़ी थी। रेलिंग पकड़े-पकड़े बड़ी सावधानी से चढ़ना होता था। हम दोनों धीरे-धीरे, बातें करते हुए चढ़े। हमें कोई जल्दी नहीं थी। हम फिल्मों के बारे में बातें कर रहे थे। टैंक की परिधि के साथ लोहे की मोटी प्लेटों को वेल्ड करके प्लेटफार्म बनाया गया था। वहाँ उस समय गाढ़ा अँधेरा था। रेलिंग के करीब खड़े होना हिम्मत की बात थी। प्लेटफार्म चूँकि मेटल का था और ओस से गीला हो चुका था इसलिए फिसलने का बड़ा डर था। हम खतरे से बे-खबर नहीं थे।

तीर की तरह, सर्द हवा चीरे डाल रही थी। अद्भुत सन्नाटा था। हम इतनी ऊँचाई पर थे कि प्लांट की धड़धड़ाहट—कुएँ के तले से आने वाली ध्वनि प्रतीत होती थी। टैंकों के किनारे लकड़ी के बोर्ड पर हाई पावर के इंडिकेटर-बल्ब लगे थे। ये पानी के तल की ऊँचाई-नीचाई के हिसाब से जलते-बुझते रहते थे। छाते के हैंडिल की तरह घूमकर लहराए पाइप पर एक बल्ब लगा था जो हर समय जलता रहता था। इसी की सिमटी-सिसटी रोशनी में हमने एक-दूसरे को देखा। आसपास के दृश्य कोहरे में खो गये थे। अन्धेरा ज़्यादा था या कोहरा? कहना मुश्किल था। थोड़ी ही देर में हमारी कुल्फी जमने लगी।

चंदा ने कहा—"राज! कुछ गाओ।" मैं हँसा। मैंने उसे याद दिलाया कि मुझे गाना नहीं आता था। उसने जोर देकर कहा—"कोई डिफरेंट चीज हो जाए। यही तो जगह है जहाँ तुम गला फाड़कर चिल्ला सकते हो। कोई सुनेगा नहीं...।" मुझे बात कुछ जमी। मैंने सोचना बन्द कर दिया और गाने लगा था—कोहरे में लिपटे हुए स्टेशन की

तरफ देखते हुए। काफी खुली आवाज़ में गा रहा था—

'फसाना ए शबे ग़म उन को इक कहानी थी,
कुछ एतबार किया कुछ न एतबार किया।'

इन्हीं पंक्तियों को बार-बार दोहराता रहा। इससे मेरी आँखें, गला और वातावरण काफी साफ हो गए। चंदा भी गुनगुनाने लगा था। उसकी आँखें चमक रही थीं। टैंक तीन चौथाई भर चुके थे। मैंने चंदा के लिए कुछ अफ़सोस अपने मन में फील किया। पानी की सतह के ऊपर फेनिल झागों के रूप में एस्बेस्टॉस के रेशे जमा थे। मैं कुछ कहना चाहता था। एकदम से इंडिकेटर बल्ब जल उठे—मैं कह नहीं पाया। टैंक में अब पानी गिरना बन्द हो गया था। मैं चंदा के कंधे पर हाथ रख-कर खड़ा हो गया। हम दोनों नीचे की ओर देख रहे थे। दूधिया रोशनी में नहाया प्लांट एक अजगर की तरह छटपटा रहा था। हरकत होती थी परन्तु सरकता नहीं था। हमारे भाग्य इसी के साथ बँधे थे।

चंदा बड़बड़ाता रहा—"आइ एम अनलकी···मोस्ट अनलकी···मैंन। दैट गर्ल!···ओह माँ!···" और वह अपने ही ग़मों में बहता चला गया। मैं समझ रहा था। टंडन की शादी होने जा रही थी। यह सैंतीस का होकर भी कुँवारा बैठा था। उम्र तो उतनी ज़्यादा नहीं लगती थी, परन्तु सर के बाल आधे से अधिक उड़ चुके थे। मैंने उसे तसल्ली देने के लिए कहा—"चंदा! शादी करने का मतलब है ज़िंदगी को कोनटैंक बना देना। वही पानी सर्कुलेट होता रहेगा। जब तक एक काम का रेशा भी इसमें बाकी है। भले ही सड़ जाए परन्तु बाहर नहीं जा सकता।" वह काफी ग्लैड हुआ और उसने मुस्कुराकर इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया।

मेरी बौद्धिकता के प्रति वह पहले से ही सचेत था।

कान बिल्कुल ठंडे हो गए थे—एकदम सुन्न। मैंने मफलर गले से खोलकर कानों पर लपेट लिया। चंदा ने अपने कोट के कालर खड़े कर लिये थे। सहसा ऐसा लगा कि प्लांट का ब्रेक डाउन हो गया है। वैक्यूम

ब्रेक की, कुएँ के तले से आने वाली सूँ-सूँ बंद हो गई थी। मैंने लपककर जाना चाहा परन्त उसने रोक लिया। "कोई फायदा नहीं।" उसने कहा था। और कुछ देर बाद प्लांट फिर चलने लगा।

चंदा मेरे बारे में बहुत कुछ जानता था। मुझे तो शक था कि वह मुझे समझता भी था।—मेरा हाथ पकड़कर उसने बड़ी अन्तरंगता के साथ अनुराधा के विषय में पूछा। उसका ख्याल था—मैं बेकार ही घुला जा रहा हूँ।

कुछ देर तक हम यूँ ही खड़े बातें करते रहे।

खाने का सामान आया पड़ा था। हम हीटर पर सेंक-सेंक कर खाते रहे और मज़ेदार बातें सोचते रहे। ढेर सामान था। खाने में कुछ समय लगा। केले तो एक़दम कच्चे थे और पेस्ट्रियों का जायका गुड़ के सेवों जैसा था। जो भी था, उस समय यह जागने का बड़ा मज़बूत सहारा था। हम दोनों में से दिन में कोई भी नहीं सोया था। सोये भी होते तो कोई खास फर्क नहीं पड़ता। एक सशक्त खुमार होता है दिसम्बर की रातों में। दो बजे से कुछ ऊपर का समय हो गया था।

मैं हीटर पर जूते का तल्ला सुखाने की कोशिश कर रहा था। चमड़े से पहले तो भाप उठी, फिर जलने की बू आने लगी। मैं बार-बार पाँव हटा लेता था। चंदा अल्बर्टो मोराविया का बखिया उधेड़ता रहा। यह एक ऐसा लेखक था, जिसे हम लोग जाड़े की नाइट-शिफ्टों में रगड़-रगड़ कर पढ़ते थे। प्लांट का शोर-गुल, वर्करों की चीख-पुकार, वैक्यूमब्रेक की सूं-सूं और यहाँ तक कि बॉस का डर सब बराबर हो जाते थे।

कभी-कभी जब अकेले मेरा प्लांट चलता तो इन किताबों को पढ़ते-पढ़ते बदन गंधाने लगता। इस बीच शिफ्ट का इन्स्पेक्टर, विजय बार-बार नज़र में आता। बिल्कुल लड़कियों जैसे हाव-भाव थे उसके। यहाँ तक कि नेल पालिश लगाकर आता था। भरा हुआ, कम उम्र शरीर और

सुन्दर गोरे चेहरे से झाँकती नीली आँखें।

चन्दा उपन्यास पढ़ता रहा। कनखियों से वह मुझे और कभी प्लांट को देखता जाता था। मैं पत्र लिखने की सोचने लगा था अनु को। परंतु उसे पत्र लिखने लायक सामान वहाँ नहीं था। साफ सफेद कागज, एकांत और अच्छी कलम। रफ़ मैं कभी नहीं लिखता। लोग जाने कैसे पहले कच्चा लिख लेते हैं, फिर उसे काट-छाँटकर फेयर करते हैं। मैं तो सीधे फाइनल ही लिखता था। संशोधन तक नहीं करता था। मैं इस बारे में कुछ तय नहीं कर पाया। इससे पहले ही दो वर्करों में झगड़ा होने लगा। हाथापाई खुलकर हुई। कुछ लोग उन्हें शांत करने का प्रयास कर रहे थे। वे दोनों बहुत ताव खाए हुए थे। जान लेने-देने पर उतारू। बड़ी मुश्किल से उन्हें काबू किया गया। चंदा ने मुझे चार्जशीट बनाने के लिए कहा। मैंने डुप्लीकेट-बुक में कार्बन लगाया और लिखने लगा। चंदा उपन्यास में आँखें गड़ाए रहा। जब चार्जशीट तैयार हो गई तो उसने हाजिरी का रोल उठाकर बाकी घंटों के लिए उन्हें अनुपस्थित कर दिया।

दोनों ट्रालीमैन थे। किसी पास के गाँव से आते थे। इस वक्त तक वे ठंडे हो गए थे। बार-बार गिड़गिड़ा रहे थे। मगर इस मामले में चंदा पत्थर था। मैं होता तो शायद माफ कर भी देता।

मैंने विजय को पानी लाने को कहा। मैं चंदा से सेक्स पर चर्चा करना चाहता था। परन्तु उसने छटते ही कह दिया—"तुम अभी सेक्स के मामले में बच्चे हो। कुछ नहीं जानते हो।" मैं मजबूरन चुप हो गया। वह किताब में खोया हुआ था। मैंने उसे ग़ौर से देखा। उसका साँवला भरा हुआ चेहरा चमक रहा था। वास्तव में वह पढ़ नहीं रहा था। बल्कि सो रहा था। उसकी पलकें बोझिल होते-होते मुँद गई थीं। मेरी भी यही हालत थी। उसे सोता देखकर आँखें मुँद जाने को बेचैन होने लगीं।

एक-दो मिनट बाद अपने पर से काबू जाता रहा। बैठे-बैठे, वैसे के वैसे ही आँखें बंद हो गईं और कनेक्शन कट गए। पलकों पर टिंचर

आयोडीन के रंग का गहरा परदा खिंच गया। या कहा जाए धुँएँ का बादल। यह क्षणिक निद्रा थी। विजय पानी लेकर आया तो टूट गई। मैंने पानी पिया और अपनी आँखों पर छिड़का। ड्रम पर बराबर लकड़ी की तलवारें चल रही थीं।

एक निरीह जानवर की तरह चंदा सो रहा था, अपनी सीट पर। शिफ्ट के ऑपरेटर वगैरह इसे सोता देखकर खुश हो रहे थे। इशारेबाजी चलने लगी थी। मुझे लगा कि उसे उठा देना चाहिये। फिर टाल ही गया—मुझे क्या लेना था। मैं तो उसकी सेक्स के बारे में भयंकर नालेज पर आश्चर्य कर रहा था। चंदा अकेला ही ऐसा माहिर नहीं था। सहगल और चतुर्वेदी उसके भी गुरु थे। कभी-कभी ये लोग पीली कोठी में, शेडो-प्ले का आयोजन करते थे। अकसर यह महीने के उन दिनों में होता था, जब हमारे पैसे उड़ जाते। ऑफ डे और छुट्टी की रातें हम पीली कोठी में ही गुज़ारते थे। यह शो बहुत मजेदार होता था।

कुल मिलाकर हम लोग दस या ग्यारह थे। सब शिफ्टों में जाने वाले। यह डिमांस्ट्रेशन बड़े वाले कमरे में दिया जाता था जो वास्तव में डाइनिंग हाल था। एक पुराना स्लाइड-प्रोजेक्टर किसी ज़माने से पीली कोठी की इन्वेंट्री में पड़ा था। शेडो-प्ले के लिए उसी का प्रयोग किया जाता था।

पहले खूब शोर-गुल मचता था, परन्तु लाइट हॉफ होते ही सब खामोश हो जाते थे। एक छोटा नीला बल्ब जलता रहता था। चंदा और सहगल पीछे कपड़े उतारकर तैयारी करते। पहले हल्के मनोरंजन के लिए स्ट्रिपटीज़ का छाया प्रदर्शन होता। प्रोजेक्टर का प्रकाश-स्रोत खोल दिया जाता। लेन्स को आगे-पीछे एडजस्ट करके सामने की दीवार को रोशनी के पर्दे से ढक दिया जाता। हम सब प्रोजेक्टर की तरफ कुर्सियों का बैक रखकर बैठते। चंदा और सहगल अनोखी मुद्राओं में

कपड़े उतारते हुए दिखाई देते। दीवार पर छायाएँ मनमाने ढंग से नाचना शुरू कर देतीं। हम सब दिल खोलकर हँसते।

वास्तव में इस छाया प्रस्तुतीकरण के लिए बहुत ही कुशल अंग-संचालन की ज़रूरत होती थी। चंदा के मुकाबले सहगल अधिक श्लाघनीय था। उसकी फिगर भी बहुत अच्छी थी। चंदा, अकसर पैसिव भूमिका निभाता।

फिर, चतुर्वेदी की गम्भीर आवाज में कमेंट्री शुरू होती। कमेंट्रेटर पहले टेक्स्ट पढ़ता। उसके बाद पात्र अनुकूल अभिनय करते थे। विभिन्न यौन-क्रियाओं के रहस्य उजागर होने लगते थे। कमेंट्रेटर सूत्राधार भी था। जहाँ आवश्यक समझता 'क्लोज-अप' और 'कट !' के लिए निर्देश भी देता। हम लोग चुपचाप बैठे, सामने की दीवार पर ये युग्म-क्रियाएँ देखते रहते। दो तीन लोग, जो काफी पुराने थे—पीछे मुड़ कर भी अकसर देखा करते। अपनी तो हिम्मत नहीं होती थी। ये बात और है कि कभी-कभी स्वभाविक ढंग से पल भर के लिए, चेहरे सामने देखते-देखते उत्सुकतावश पीछे की ओर घूम जाते।

शुरू में मेरे लिए ये सब बातें नई थीं। धीरे-धीरे मैं अभ्यस्त होता गया। वहाँ मैंने अपना ज्ञान काफी बढ़ाया—खास तौर से सेक्स की विचित्रताओं के बारे में। मुझे इस जानकारी के महत्व का अनुमान होने लगा था। परन्तु मैं चाहकर भी कोई मूर्त्त प्रयत्न नहीं कर पाया।

मुझे कई बार शेडो-प्ले में अभिनय करने के लिए आमन्त्रित किया गया परन्तु मैं अपने-आपको इसके लिए कभी तैयार नहीं कर पाया। हिच थी। जो वहाँ रहते कभी नहीं टूटी। मैं ही नहीं आधी से अधिक जनता ऐसी ही थी। कम-से-कम हम तीनों नये शिफ्ट इन्चार्ज तो बहुत झेंपू हो जाते थे। वैसे शो देखने में हमारी पूरी दिलचस्पी थी। सोचते थे—यह ज्ञान पहले नहीं तो शादी के बाद तो काम आएगा। और हकीकत में ऐसा ही हुआ।

शेडो-प्ले के सिंसियरिटी से देखे गए कई दृश्य और अभिव्यक्तियाँ

अभी तक स्मृति में सुरक्षित हैं। देखने पर उत्तेजना न तो उस समय होती थी, न अब याद करके होती है। यह मारके की बात है।

वह सो रहा था। उसके गिर्द मेरा सोचना रुक गया था—वह सो क्यों रहा है? उसने शेव नहीं बनाई थी। और दिन सेवेन्टी एट्थ के साथ गुजारा था। ट्यूब लाइटों के जाल में फँसे उसके चेहरे से किरनें फूट रहीं थीं। न तो वह खंडित प्रतीत होता था, न ही समूचा। लिफ्टिंग यूनिट से स्प्रिंग-स्टील की एक नालीदार टेम्पलेट झनझनाहट के साथ गिरी और आधी निकलकर फँस गई। चंदा चौंककर उठा। उसने लाल आँखों से ट्रालीमैन को घूरा। जो शायद टेम्पलेट पर तेल छिड़कना भूल गया था। उसने झट से बटन दबा कर ट्राली रिलीज कर दी। जोर का धक्का लगा—वह ट्राली निकलकर रेल की पटरी पर दौड़ती हुई, दूसरी ट्राली से जा टकराई। फँसी हुई टेम्पलेट छिटककर बाहर आ गिरी।

फिर सूँ-सूँ का क्रम चलने लगा। इस चक्कर में तीन-चार शीटें, ज़रूर बरबाद हो गईं।

चंदा ने मेरा हाथ पकड़ा और जनरल ऑफिस की ओर ले चला। वहाँ सिर्फ दिन में ही काम होता था। जब कभी बाहर वाला टेलीफोन आउट-ऑफ-आर्डर रहता था, हम जनरल ऑफिस खुलवा लिया करते थे। बड़ा-सा हॉल था। लकड़ी के पार्टीशन खड़े करके अलग-अलग लोगों के बैठने की जगहें बना दी गईं थीं। यहाँ पी० बी० एक्स० के टेलीफोन हर टेबुल पर रखे थे। दो टेलीफोन बाहर भी थे। वाच एण्ड वार्ड वाले एक आदमी ने दरवाज़ा खोला और सलाम करके चला गया।

अन्दर बन्द हवा की गर्माहट हमें अच्छी ही लगी। हम लोगों की खुली ड्राअरों की तलाशी लेने लगे। किसी में, कोई खत या मैगज़ीन या ऐसी ही कोई चीज़ मिल जाती तो हम नहीं छोड़ते। कुछ विशेष काम

की चीज़ हाथ नहीं लगी—एक मेज से बिजनेस मैनेजमैंट की एक विदेशी पत्रिका जरूर मिली। जिसके कवर पर ही एक मिनी स्कर्ट पहने लड़की सेकेन्ट्रीनुमा स्टाइल से बैठी अपने (प्रदर्शित) बॉस को अपनी एफीसेंसी दिखा रही थी। इसे मसालेदार होने का प्रमाण समझकर मैगज़ीन को मैंने कोट की जेब के हवाले किया। चंदा एक टेबुल से बरामद हुए खत को जल्दी में टटोल रहा था। परन्तु उसका निराश चेहरा बता रहा था कि ख़त में कोई ख़ास बात नहीं थी।

ऐसा लगा, कोई खिड़कियों के पीछे खड़ा हमारी गतिविधियों को देख रहा था। सिक्योरिटी गार्ड भी हो सकता था। हम फोन के पास पहुँच गये। फोन तो किसे करना था, यह तो वक्त काटने की, हमारी तरकीबें थीं। डाइरेक्ट्री खोलकर किसी 'मिस' या 'डॉक्टरमिस' का नाम ढूँढते। उसका नम्बर बड़ी आशा से डायल करते और घंटी, दूसरी ओर देर तक बजती रहती। कोई नहीं उठाता। अकसर झल्लाकर हम कनेक्शन काट देते। कुछ प्रयत्न सफल भी हो जाते—अलसाई हुई आवाज़ में—"हेलो !···कौन है ?" सुनने को मिला। उस समय फोन पर मैं था। आवाज़ का कुछ खुमार मुझे चढ़ा। मेरी कल्पना में पारदर्शक नाइटी पहने एक जवान औरत की तस्वीर थी और हाथ में रिसीवर। इसमें आगे कुछ हो नहीं सकता था। "रॉंग नम्बर !" कहकर सिलसिला तोड़ दिया। चंदा नाराज हो गया। उसने मुझ पर भरोसा छोड़ कर खुद फोन सँभाला। दो-तीन जगह ट्राई करने पर एक मछली फँसी—सुनवाई हुई (रजाई से एक मुलायम हाथ निकलकर टेलीफोन उठाता है।) जरूर मधुर आवाज रही होगी। चंदा बहुत खुश नज़र आया। बड़े विश्वास भरे स्वर में उसने उस अनजानी को कहा—"डार्लिंग ! स्वीट हनी ! आइ एम चंदा। यु आर बिलव्ड···" उधर से प्रतिक्रिता में रॉंग नम्बर का फतवा मिल गया। परन्तु चंदा जल्दी निराश होने वाला नहीं था ! कोशिश करता रहा। उसी को दो-तीन बार परेशान किया।

उस बड़े हॉल की सिर्फ कुछ ही लाइटें उस समय जल रही थीं।

तीन चौथाई हिस्सा अन्धेरे में डूबा हुआ था। यह साउन्डप्रूफ बिल्डिंग बड़ी राहत देने वाली जगह थी। फिर भी मैं, खड़े-खड़े थक गया था। एक कुर्सी पर बैठ गया। पीले रंग की मोटी टेलीफोन डाइरेक्ट्री का कवर चमक रहा था। कुछ खास नम्बर कवर पर दिये गए थे। मेरे मन में एक विचार कौंधा—ट्रंक काल। मैं उत्तेजित हो उठा। अपनी समस्त दूरियों के रहते हुए भी हम उतने मजबूर नहीं थे। कोटा के लिए ट्रंक-काल बुक किया जा सकता था। रात का आखिरी पहर था। आसानी से लाइन मिल भी जाती।

उसको देखे, उससे बात किये एक अरसा गुजर गया था। मैं खत पर खत लिखे जा रहा था। उसकी ओर से कोई भूला-भटका जवाब भी नहीं आता था। इस समय गहरी नींद से उसे जागना पड़ेगा। सुनता था—पहले इन्टीमेशन दी जाती है, अमुक जगह से आपका ट्रंक-काल है। वह आश्चर्य से भर उठेगी। इस खयाल से मुझे बड़ी खुशी हुई। जिसे दबाकर मैंने चंदा से अनुरोध-सा किया। वह मान ही नहीं गया था, उसने खुद काल बुक कर दी।

पता लगा—आगरा होकर लाइन मिल सकेगी। सीधा सम्बन्ध नहीं था। समय लग सकता था। कुछ मिनट हम वहीं खड़े प्रतीक्षा करते रहे। फिर लगा—यहाँ खड़े रहना ठीक नहीं। किसी को यहाँ खड़ा कर दें। प्लांट पर पहुँचकर चंदा ने इलेक्ट्रीशियन के हेल्पर को वहाँ भेज दिया। वह किसी मिनिस्टर के सोर्स से था और अक्सर इजाजत लेकर ट्रंक-काल मिलाया करता था। उसे हिदायत दे दी गई—जैसे ही उधर से खबर आए, भागकर हमें सूचित करे।

मैं प्लांट पर इधर-उधर घूमता रहा। सब ठीक चल रहा था। मशीन बढ़िया चल रही थी—पाँच राउंड में। पाँच राउंड के मतलब थे—सवाया आउटपुट। न कोई पम्प लीक कर रहा था, न ही लिफ्टिंग में टेम्पल गिर

रही थी। ट्रालीमैन बराबर, एक टेम्पलेट के उठते ही दूसरी पर तेल का कपड़ा फिरा देता था। रात ढलने को जा रही थी। परन्तु मुझे अपनी शिफ्ट के वर्कर चेतन नज़र आ रहे थे। विजय शीटों का आवरली रिकार्ड लाया। प्रोडक्शन बहुत अच्छा था। मन हल्का हो गया। सुबह फोन पर रिपोर्ट देते समय तक सत्ताइस टन से ऊपर ही रहना था।

प्लांट से जनरल ऑफिस तक सीधा रास्ता था—एक प्रकाशित गैलरी के रूप में। उस मोजाइक की पट्टी पर मेरी निगाह फिसल रही थी। फोन के पास खड़ा हेल्पर किसी समय भी चल सकता था। मैं अपनी सीट पर जाकर बैठ गया। खूब सोचने को जी कर रहा था। परन्तु आँखें सामने ही लगी रहीं। वह जैसे ही ऑफिस के दरवाज़े पर दिखाई देगा, मैं लपक लूँगा। ट्रंक पर अधिक समय कहाँ मिलता है—सिर्फ तीन मिनट।"

सहसा इस सुख में बाधा-सी पड़ी। मैंने कोई बेवकूफी से भरा बचपना कर डाला था। इस समय कौन-सी तुक होती थी—फोन करने की। सारा घर बेवजह जाग उठेगा। वे लोग सोचेंगे—जाने क्या है? परन्तु फोन वाले कमरे में अनुराधा और अनिल ही तो सोते थे। शर्माजी को दूसरे कमरे में होना चाहिये था। हो सकता था कि वे टूर पर बाहर गए होते। जो भी हो, जीजी की तरफ से मुझे चिंता नहीं थी—वे सब समझती थीं।

मैं सिगरेट पी रहा था। मन में तनाव-सा था—फोन की बात को लेकर। जाने क्या रिपरक्शन्स होंगे—मैंने सोचा। चंदा कब का आकर बैठ चुका था। मुझे मालूम था—इस समय वह बोलेगा नहीं। मुझे सोचने का मौका देना उसका फर्ज़ था। उसने धीरे-से मेरे सिगरेट के पैकिट से एक सिगरेट निकाली।

शायद आदी न होने के कारण, सिगरेट का धुआँ उससे बर्दाश्त नहीं हुआ था। वह बोल ही पड़ा—"राज! आज तुम उससे सब-कुछ सेटल कर लो...यू एश्योर हर। बहुत हो चुका। नहीं तो बेटा पछताओगे,

तुम !" कहते-कहते वह उठ खड़ा हुआ। उसके प्लांट पर क्रास कटर में शीट फँस गई थी। कन्वेयर रुका हुआ था। ड्रम से कट-कटकर शीटों का कच्चा ढेर बढ़ता जा रहा था। वह सिगरेट पीता हुआ ही उस तरफ चला गया। मेरा प्लांट साफ-सुथरा चल रहा था।

दोनों प्लांटों के बीच बैठे हुए मुझे महसूस हुआ कि एक जैसे दिखने वाले ये प्लांट एक जैसे नही हैं। एक बड़ा फर्क था। जिस पर कोरू-गेटेड शीटें बन रही थीं, वह मेरा प्लांट था। दूसरे पर प्लेन बोर्ड बन रहे थे—यह चंदा का था। ये दोनों विशाल प्लांट, दो दैत्य थे। फर्श पर लेटे हुए। रोज सैकड़ों आदमियों को निगल जाते थे और फिर उगल देते थे। साबित था कि हम इन्हें काबू करते थे। पर ये हम पर हावी थे। होशियार शिफ्ट इंचार्ज कभी प्लांट का भरोसा नहीं करते। चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न चल रहा हो। चंदा अपने प्लांट पर जुटा हुआ था। उसके पास जैसे व्यर्थ की बातों के लिए अवकाश न हो। अवकाश तो मेरे पास था। मैंने जाने कितने विश्वास जाने-अनजाने में इसके कर लिए थे। उन्हीं के सहारे ज्यादातर निष्क्रिय बैठा रहता था। सिगरेटें फूँकता रहता। अनु को काल बुक करते समय भी मुझे झिझक नहीं हुई। बाद में मैंने सोचा—मेरे प्लांट का ब्रेक डाउन हो गया तो क्या होगा ? यही चंदा मुझे झाड़ेगा। जब तक मैं वहाँ से आऊँगा, सब यहाँ अविश्वसनीय हो उठेगा। अजीब विरक्ति से मैं भर उठा।

सामने जनरल ऑफिस के दरवाज़े से निकलकर भागता हुआ वह हेल्पर आ रहा था। मैं उठा। मेरे चलने में तेज़ी आती गई। आपरेटर के साथ खड़े चंदा ने, जाने कैसे एक बार पीछे मुड़कर मुझे देखा। मैं भागने लगा।

—हेलो ! एस० एम० शर्मा स्पीकिंग फ्राम कोटा।

—हेलो ! अंकल, मैं राजकुमार बोल रहा हूँ। नमस्कार !

—कौन, राजकुमार ! कहाँ से बात कर रहे हो ?

—मैं यहाँ फैक्ट्री से बोल रहा हूँ। मेरी नाइटशिफ्ट चल रही है।

—अच्छा । हाँ, तुम तो आजकल दिल्ली में हो। कहो, कैसा चल रहा है ।

जी, सब ठीक है। बहुत दिन हो गए । सोचा आज आप लोगों से बात करें।···ज़रा अनु और अनिल से बात करवा दीजिये ।

—हाँ हाँ ? होल्ड किये रहो । मैं उन्हें उठाता हूँ। (अरे अनु··· अन्नू ! उठो भई। सुनती हो, जरा उठाना अनु को। दिल्ली से राज का फोन आया है ।)

—(खट !)

—हेलो ! कौन ? अनु !

—(अनु उठो जल्दी। अनिल तब तक तुम बात कर लो ।)

—हेलो !

—नमस्ते—राज भाई साहब ! हम अनिल बोल रहे हैं। दीदी अभी आती हैं ।

—नमस्ते अनिल जी ! कहिये, क्या हालचाल हैं, आप तो हमें बिल्कुल भूल गए हैं। कभी चिट्ठी-विट्ठी तो लिखा करिये ।

—भाई साहब—आपने भी तो हमें नहीं लिखी···लीजिए दीदी आ गईं। बात कर लीजिए ।

—कौन ? अन्नू !

—हाँ, मैं—अनुराधा बोल रही हूँ ।

—हेलो अन्नू। कैसी हो ।

—ठीक हूँ।···आप कहाँ से बोल रहे हैं ?

—मैं। यहाँ, फैक्ट्री से। रात की ड्यूटी है। आज जी में आया, अनु से बात करें। दरअसल अपने को रोक नहीं सका ।

—अच्छा ! ···और, क्या हालचाल हैं ।

—हालचाल बाद में। पहले ये बताओ तुम चिट्ठी क्यों नहीं लिखती

हो ?···हद होती है किसी चीज़ की ····बोलो । अनु ! चुप क्यूँ हो । समय बहुत कम है ।

—अब क्या कहूँ ।

—अनु ! मैंने सोच लिया है ।

—क्या सोच लिया है ? हमेशा सोचते ही रहते हैं या और भी कुछ होता है ।

—और भी होता है । बताएँ ?

—क्या !

—वहाँ तुम्हारे नज़दीक कोई है तो नहीं ?

—नहीं, अनिल है ।

—अनु ! याद बहुत आती है । हर समय—बस, तुम्हारा खयाल और···।

—हूँ···।

—अनु ! तुम्हें तो किसी की याद नहीं आती ।

—पता नहीं ।

—क्यों ? (एक्सटेंड प्लीज़ । थ्री मिनट्स···ओ० के० ।) क्या शर्मा रही हो ? अरे भई, आपरेटर किसी से कहेगी नहीं ।

—छोड़िये । और कोई बात नहीं है क्या ! करने के लिए ।

—है । वहाँ, कोटा में कौन-सी पिक्चर लगी है ?

—'बहारें फिर भी आएँगी' ।

—पिक्चर का नाम बता रही हो, या और कुछ ?

—मजाक करने के लिए ये जगह ठीक नहीं है ।

—अच्छा । अनु ! मेरे पास कब आओगी ।

—कह नहीं सकती । शायद···रहने दीजिये ।

—कह डालो, अनु ! प्लीज़ !

—बेकार । आपका मूड खराब हो जाएगा ।

—नहीं अन्नू । कहो । मेरी कसम ।

—क्या है ? फालतू-सी बात के पीछे।···सुन लीजिए। आखिरी समय में मैं आऊँगी, आपके पास।

(ओवर। सॉरी नो मोर एक्सटेंशन पासिबुल नाऊ)

—अनु ! पगली अनु···गुडनाइट ! खत लिखना।

—अच्छा। गुडनाइट।

जो बातें मैं कह नहीं पाया था, उनके काँटे हलक में गड़ रहे थे। प्लांट अपनी गति से चल रहा था। आधे आदमी सो रहे थे, बाकी काम पर थे। वे पहले सो चुके थे। चंदा के प्लांट पर फटी हुई कच्ची शीटों का ढेर लगा था। लिफ्टिंग के आसपास की एक चेन टूट गई थी। फिटर चेन का स्पेयर स्टेपुल ले आया था। मैं चंदा के बिलकुल नजदीक खड़ा रहा। उसने नजर उठाकर मेरी ओर देखा तक नहीं। फिटर अपना काम कर रहा था। उस समय उसके उतना व्यस्त होने की ज़रूरत नहीं थी। मुझे चंदा की यह बेरुखी अखर गई। मैं सीधा, अपनी सीट पर जाकर बैठ गया। हीटर को पैरों के नीचे सरका लिया।

मैं, गहरी प्यास के दायरे से लौटा था। आपा खो चुका था—कच्ची शीटों के ढेर की तरह। मैं एक अनचाहा, अस्वीकृत व्यक्ति बन गया था। मेरे बारे में मीलों लम्बी दिलचस्पियाँ लोगों को नहीं थीं। मैं काम पर था। परन्तु मन नहीं था। यह रोज का किस्सा था। नौकरी जाने कैसे चल रही थी। अनु और नौकरी, दोनों ही कभी मेरी समझ में नहीं आ पाये थे। मुझे लग रहा था—मैं ज़लील होता जा रहा हूँ। अब मैं सिर्फ सम्पर्क का बोझा ढो रहा था।

और भी लोग थे—चतुर्वेदी, टंडन, सहगल। सब अपना बैलेंस बनाए रहते थे। मेरे जैसा निकम्मा इनमें शायद कोई नहीं था। मेरी शुरूआत ही गलत हुई थी। मेरा प्लांट भी हमेशा ठीक चलता रहा। —प्रोडक्शन, क्वालिटी और वाटर परसेंटेज सब ठीक ही रहते थे।

परन्तु और लोगों को भी क्या खाक आता था। वह एक ऑटोमेटिक प्रोसेस था। इसमें कोई भी क्या कर सकता था।

सुबह होने में बहुत देर नहीं थी। चंदा का बराबर प्लांट पर रहना और मेरा कुर्सी पर आराम से बैठे रहना—इस बात का द्योतक था कि हमारे सम्बंध कुछ तनावपूर्ण होने वाले हैं। मैं झल्ला उठा। साला जहन्नुम में जाए। उसके एल० टी० लगाना मेरे बस का नहीं था। घड़ी देखी—पाँच बजे थे। मैंने विजय को देखा। वह सिर्फ कमीज में था। यहाँ तक कि स्वेटर भी नहीं था। कमीज के नीचे एक और कमीज पहने था। जो छुपाने की लाख कोशिशों के बावजूद दिखाई दे रही थी।

जाड़े के मारे उसके रोंये खड़े हुए थे। उसे ठिठुरने का अच्छा अभ्यास रहा होगा, वरना इस समय वह किसी कोने में और वर्करों के साथ बैठा आग ताप रहा होता। वह शीटों की गिनती कर रहा था। नीले रंग की कमीज उसके गोरे-चिट्टे रंग पर खूब जम रही थी। परंतु बेकार—जाड़ा तो जाड़ा था। मेरा मन हुआ उसे अपने पास बुला लूँ। मेरे आगे पीछे हीटर जल रहे थे। मैंने एक इरादा ये भी किया कि इस बार पुरानी काट्सवूल की कमीज उसे दे दूंगा।

मैंने उसे बुलाया और हीटर के पास बैठने को कहा। परन्तु वह शर्मा गया। मना करने लगा। मैंने हाथ पकड़कर उसे हीटर के पास बिठा दिया। वह जमीन पर बैठा था, हीटर के पास—कृतज्ञता को चेहरे पर ओढ़कर। प्लांट के सब वर्कर इस ओर देख रहे थे—मैंने उपन्यास में आँखें गड़ा लीं। परन्तु दो मिनट भी न बीते होंगे कि अँधेरा छा गया। शोर-गुल मच गया। एमरजेंसी लाइट्स जल उठीं। दो, खम्भों से फूटती सीधी-मोटी प्रकाश की लकीरें। जगह-जगह से पानी गिरने की धड़धड़ाहट आने लगी—फिटरों ने ग्लैड्स खोल दी थीं। दो बड़े पनाले अलग गिर रहे थे। फ़र्श पानी से भरता जा रहा था।

प्लांट पर तो हालत और भी बुरी थी। चारों सीव सिलिंडरों को जाने वाले होज पाइप खोल दिये गए थे। उनसे फूट-फूटकर गाढ़ा सीमेंट

ग्रौर फाइबर का घोल बह रहा था। छीटों से कपड़े तर हो गए।

पावर ब्रेक-डाउन के समय यह सब होता ही था। इसके हम ग्रादी हो चुके थे। एमरजेंसी लाइट्स की मद्धम पीली रोशनी में प्लांट पोस्ट-मार्टम किये शव से नज़र ग्रा रहे थे। मैं रस्मी बातों को निपटाते कई जगह भीगा। जूते तो बिल्कुल सन गए थे। मैं ग्रपने-ग्रापको बेहद थका हुग्रा महसूस कर रहा था। सीट की ग्रोर जा ही रहा था कि चंदा ने मुझे टार्च से स्पॉट किया ग्रौर ज़ोर से चिल्लाकर मुझे बुलाया। मैं उसकी ग्रोर बढ़ा। मेरी टार्च विजय के पास थी। वह फोन पर इलेक्ट्रीसिटी बोर्ड वालों से पूछने गया हुग्रा था। चंदा ग्रौर मैं उसी की फिराक में टाइम ग्रॉफिस की ग्रोर चले।

रास्ते में विजय ने बताया—पावर दस-पंद्रह मिनट बाद ही ग्रा सकेगी। किसी पोल पर जम्पर कट रहा था। हम बाहर के दरवाज़े पर खड़े होकर बातें करने लगे। चंदा बहुत उत्सुकता से पूछ रहा था—फोन पर क्या बातें हुईं ? मैंने किसी तरह उसे बताया। मुझे बेहद सर्दी महसूस हो रही थी। वह संतुष्ट न हो सका। उसने निराशा-सी प्रगट की। हो सकता था सहानुभूति जाहिर करने की कोशिश की हो, क्योंकि वह समझाने भी लगा था। मैं खामोश रहा। मेरे कानों पर मफलर लिपटा था (जो ग्रनु ने उपहार में दिया था)--शब्द छन-छनकर ग्राते लग रहे थे।

'ग्रनुराधा मेरे इस ग्रभागे जीवन में ग्राकर क्या करेगी !'—इस ग्रहसास के सिवा, मेरे पास उस समय ग्रौर कुछ नहीं बचा था। ग्राखिरी वक्त में यह ब्रेकडाउन ! शिफ्ट का प्रोडक्शन ग्रब चौपट ही था। मैं दुखी ही हो सकता था। था भी।

सुबह छः बजे पॉवर ग्राई। हमने क्लीनिंग करवाई। क्लीनिंग के लिए ठेकेदार के ग्रादमी ग्राते थे। उन्होंने लग कर ग्राधे घंटे में सारा

फर्श साफ कर डाला। फिर, एक जगह बैठकर आग तापने लगे। प्लांट चालू होते-होते साढ़े छः बज गए। शिफ्ट कुछ देर बाद खत्म होने वाली थी। इस बीच सूरज की किरणें अंदर आ गई थीं। हम इतना व्यस्त रहे कि आभास तक नहीं हुआ। हमारे कपड़े, कोट और बाल छींटों और सीमेंट से भरे थे।

आँखों की दुखन स्थिर हो गई थी। पेट में अजीब गैसें जमा थीं। मैं वाश बेसिन से कुल्ला करके वापस प्लांट पर आया। कैंटीन खुल गई थी। चाय का सैट हमारी टेबुल पर रखा था। मैंने विजय को चाय बनाने के लिए कहा और चंदा को बुलाने चला गया।

हमने साथ बैठकर चाय पी। काफी ताज़गी महसूस हुई। चाय के सुनहरे रंग में सुबह ने थोड़ी-सी खुशी मिला दी थी। आज का दिन ऑफ-डे था। प्लांट को बंद करवा के जाना था।

ऑफ-डे को प्लांट की पूरी ओवर हालिंग और क्लीनिंग होती थी। एक-एक हिस्सा खोलकर अलग कर दिया जाता। सीमेंट में सने रबर के ठोस प्रेशर रोल यूँ ही फर्श पर पड़े रहते थे—फिटरों की मेहरबानी पर। जगह-जगह नये नट-बोल्ट, होज पाइप के टुकड़े, क्लिप और ब्रेकेट बदले जाते। सेल्फ एलाइनिंग बेयरिंग्स में ग्रीज लगाया जाता। फेल्ट लम्बा का लम्बा ऐसे पड़ा रहता जैसे उठने का दम ही न हो। फास्फर-ब्रांज की जालियों वाले सीव सिलेंडर, लकड़ी के स्टैंडों पर नज़दीक रखे जाते थे और आपस में बातें करते मालूम होते थे। पूरे चौबीस घंटे प्लांट यूँ ही बिखरा पड़ा रहता था। और हम ऑफ-डे मना रहे होते। अक्सर दिल्ली चले जाते या पीली कोठी में बैठकर उल्टियाँ आने तक पीते जाते। कुछ लोग फ़्लाश में ही भिड़े रहते थे।

ऑफ-डे की रौनक शिफ्ट के वर्करों पर छाने लगी थी। रात-भर थके-मांदे, अलसाए-औंघाते लोग सुबह होते-होते जाने कैसे बदल गए थे। वे सब तेज़ी से शक्लें बदलते जा रहे थे। एक-एक करके जाते और साफ़-सुथरे होकर बाथरूम से लौटते। अधिकतर वर्कर जाते समय फिर से

उन साफ कपड़ों को पहन लेते थे जो काम पर आते ही उतार दिये जाते थे। मगर विजय वैसा ही था। वह कपड़े नहीं बदलता था। सिर्फ मुँह धो लेता था। फिर भी उसके कोमल चेहरे पर आभा थी। रात-भर जागने के असर भी खूबसूरत नज़र आ रहे थे। वाक़ई, उसका चेहरा शानदार था।

साढ़े सात बजते-बजते प्लांट बंद हो चला था। पानी लगवा दिया गया था। खाली फैल्ट (कम्बल) चल रहा था। अब सीव सिलिंडरों में कोई रेशों भरी सीमेंट की तह—उस पर नहीं चढ़ रही थी। स्प्रे-पाइपों की असंख्य, तीव्र जलधाराओं में वह अमेरिकन-नाइलोन और ऊन का मोटा कम्बल नहा रहा था। रबर के प्रेशर रोल्स उसे निचोड़ते जाते थे। अभी छः दिन और खींच ले जाएगा—मैंने सोचा। उसका एक भी धागा अभी बाहर नहीं आया था।

मशीन ड्राइवर रबर होज लेकर जगह-जगह धार मार रहा था। चंदा ने ज़ोर से 'होय!' की आवाज़ निकाली, और ताली बजाकर सबको जाने का इशारा किया। वर्कर जाने लगे। हम शिफ्ट रिपोर्ट भरते रहे थे।

टाइम ऑफिस से बाहर निकलते समय हम बहुत घुल-मिलकर बातें कर रहे थे। सहमतियाँ जैसी नरम बातें। बाहर खूबसूरत लॉन जाड़े की धूप में चमक रहा था। माली खुरपी लिए जुटा था। चंदा ने उसे इशारा किया। उसने दौड़ कर—दो गुलाब के फूल लाकर हमें दिये। उनकी खुशबू से मन कुछ हल्का हुआ। नहीं तो शरीर का जोड़-जोड़ दुख रहा था। मैं भी शरीर को प्लांट की तरह खोल देना चाहता था। सर्दी अब इकट्ठी होती जा रही थी। त्वचा पर ही नहीं—अंदर गोश्त में भी।

एक कल्पना थी। जाते ही ब्रश करके नाश्ता करेंगे और रजाइयों में दुबक कर सो जायेंगे। लेकिन शक भी होने लगता था।

सहसा खेतों के बीच से भागते हुए एक गिरगिट को देखकर चंदा रुक गया। कुछ सोचकर गंभीरता से बोला—"राज ! अनुराधा इज ए मोस्ट सिंसियर गर्ल । यू मस्ट मैरी हर ।" गिरगिट अचकचाकर भाग गया । मुझे उसके लौटने का रास्ता पता नहीं चला ।

पीली कोठी पर सुनहला सूरज चमक रहा था । शरीर थके थे । सूरज की ताज़गी बनावटी लग रही थी ।

सुनहरी मछली को किसने मारा

सुसाना पामर की मृत्यु इसी कमरे में हुई। बाहर तोपें गोले बरसा रही थीं और एक गोला इस कमरे में आ गिरा था। कमरा क्या एक सँकरा गलियारा था। मोटी पुख्ता दीवारों वाले घर के बाएँ भाग में सुसाना इस कमरे में अपने को सुरक्षित समझती रही होगी। वह नादान थी। नादानों के हिस्से अक्सर बहुत-सी खूबसूरती भी पड़ जाती है। मैंने तय किया कि सुसाना सुन्दर भी रही होगी और उसके मरने का सदमा गहरा रहा होगा। इसीलिए उसकी याद में संगमरमर का यह आयताकार टुकड़ा दीवार में जड़ दिया गया है। संगमरमर पर सादगी से लिखे गए चन्द अक्षर हैं। सदमे का असर और लड़ाई का माहौल, इससे ज़्यादा की इजाज़त दे नहीं पाया होगा।

कोई वहाँ एक मिनट को भी नहीं रुकता था लेकिन मैं निगाहें गड़ाए खड़ा रहा। सुसाना मासूम थी और मुझे मासूमों से ज़रा जल्दी लगाव हो जाता है। इसी लगाव के मारे मैं छुट्टी का दिन नीला के साथ बिताने लखनऊ पहुँचा।

संगमरमर का वह टुकड़ा साक्षी था कि सुसाना पामर एक जुलाई १८५७ के दिन ख़ुदा को प्यारी हुई। बग़ैर कुछ कहे सुने। वह कमसिन थी। १९ साल की एक भोली भाली लड़की। नीला ने भी वह पत्थर देखा मगर कुछ कहा नहीं। कुछ न कहने की अदा को भी मैं बराबर मासूमियत में शुमार करता रहा हूँ।

यों प्रथम परिचय से अब तक नीला ने मुझसे जो कुछ कहा है सो भी बहुत भोला और भला कहा है। यह उसी का विचार था कि मैं छुट्टी का दिन लखनऊ की लम्बाई-चौड़ाई नापने में बिताऊँ। लखनऊ उसका अपना शहर है, यों काम वह मेरे ही शहर में, मेरे ही दफ्तर में, करती है। दोनों शहरों के बीच फासला ज्यादा नहीं है। हर शनिवार की शाम और हर छुट्टी के दिन वह घर वालों से मिलने लखनऊ चली जाती है। मैं दफ्तर में नया-नया ही आया हूँ और वह दूसरे शहर की है। लिहाज़ा जानकारी अधूरी रहने की गुंजाइश दोनों के लिए थी। यों उसके बारे में कुछ सुनने-जानने की कोशिश आड़े-तिरछे ढंग से मैं कर चुका था। और मुमकिन है उसने भी मेरे विषय में किसी से जिज्ञासा प्रकट की हो। यों मासूमों के लिए ये मामले ज़रा ज्यादा पेचीदा साबित होते हैं। बहरहाल मुझे उम्मीद थी कि उसे मेरे बारे में सब-कुछ ठीक से मालूम नहीं होगा। शादी के बाद मैं बहुत-से मन-पसन्द काम लुक-छिप-कर करने लगा हूँ। घर से चार-छह मील की दूरी पर होता हूँ तो अपने को कुंवारा जताने लगता हूँ। शायद नीला को भी ऐसी ही गलतफहमी रही हो और इसी के चलते उसने उस दिन यह कह दिया हो कि मेरे घर वाले आपसे मिलने के इच्छुक हैं। कभी लखनऊ आएँ तो मिलें।

मैंने बात टालने वाले अन्दाज़ में यह कह दिया था कि कभी तुम्हारा कुछ होगा तो आयेंगे। वह इसका मतलब नहीं समझी और बोली—'हाँ, ज़रूर आइएगा। आपको सारा शहर घुमायेंगे।' यह नासमझी भी मुझे बहुत प्यारी मालूम हुई।

नीला ने इस बात को सहजता से मान लिया। वह बहुत उत्साह दिखाने लगी। मगर साथ ही वह मुझे कोई खास खुश होती हुई नहीं दिखाई दी। मैंने महसूस किया कि खुश न हो सकने को भी मासूमियत में शुमार करना पड़ सकता है।

सवेरे बस से लखनऊ पहुँचा तो वह स्वागत के लिए खड़ी थी। हल्की सर्दी में उसने मूँगिया कार्डिगन पहन रखा था। उसके चेहरे पर

सुबह जल्दी उठकर बस अड्डे पर पहुँचने की हड़बड़ी साफ लिखी हुई थी। मेरे हाथ में ब्रीफकेस देखकर उसे कुछ आश्चर्य-सा हुआ क्योंकि दफ्तर में इस तरह की कोई चीज़ अपने साथ नहीं रखता। हाँ, जब इस तरह के सफर या तफ़रीह के लिए निकलता हूँ तब यह मेरे साथ ज़रूर होता है। हम पहले उसके घर गए लेकिन मैंने आग्रह किया कि चाय-वाय के चक्कर में देरी नहीं करनी चाहिए। कहीं बाहर ले लेंगे। इस हड़बड़ी का उसकी माँ और भाई-बहन क्या अर्थ लगाएँगे इसकी मुझे चिन्ता नहीं हुई। बस मैं तो वहाँ रुकने का खतरा नहीं उठाना चाहता था। चौराहों से रिक्शा पकड़कर चिड़ियाघर गए। बाहर चौकीदार ऊँघ रहा था। हम आए तो टिकट का एक कोना फाड़कर फिर सो गया। मुझे चिड़ियाघर में कुछ भी नहीं देखना था। मगर चिड़ियाघर दिखाना नीला का कर्तव्य था। मैं कुछ ऊट-पटाँग-सी बातें करता रहा जिन्हें मेरे रहस्यमय रूप से दार्शनिक होने का अथवा इन्टलएक्चुवल मसखरा होने का सबूत माना जा सकता था। मसलन रंग-बिरंगे तोते के विषय में मैंने पूछा कि इन्हें रंगने के लिए यहाँ रोज़-रोज़ कौन आता होगा। नीला इस तरह की बातों पर कुछ अटक-अटक कर हँसती रही और साथ ही कोई माकूल-सा जवाब खोजने की मासूम कोशिश भी करती रही। वह बराबर एक अच्छे गाइड की तरह मुझे सब-कुछ दिखाती और समझाती जा रही थी। मैं उसका बोलना देख रहा था—सुनने का मूड कतई नहीं था। दरअसल मैं शेर और चीतों की पिंजड़ों से उठती हुई अजीब-सी गन्ध में खोया हुआ था और इस गन्ध की मासूमियत से तुक बैठाने की एक बेकार-सी कोशिश भी करता रहा था।

नीला, शायद सवेरे उठकर जल्दी से नहा भी नहीं सकी थी। यों साज-सिंगार उसने पूरा कर रखा था। बासीपन और ताज़गी की तुक मिलाने वाली एक गन्ध उसके जिस्म से उठ रही थी। मुझे यह सोचकर बहुत सुख मिला कि नीला आज दिन भर मेरे नज़दीक रहेगी। मैं उसके चेहरे पर कुछ पढ़ना चाहता था लेकिन वह कोरा कागज़ बना हुआ था।

हाँ, मछलीघर में एक जगह उसके चेहरे पर कुछ चमक ज़रूर आई। मेरा हाथ पकड़कर एक ओर ले गई और बोली कि यह सुनहरी मछली नहीं देखिएगा। नारंगी रंग की उस चमकदार मछली के बारे में उत्साही बनने की कोशिक करते हुए मैंने पूछा—"तुम्हें पसन्द है ?"

नीला ने कहा, "बहुत।'

मैंने टिप्पणी की, "भून-भानकर खा लो।"

"हाय," नीला बोली, "आप लोग ऐसा ही करते होंगे !"

मुझे यह देखकर खुशी हुई कि उसके चेहरे पर अब भी चमक था और उसकी आवाज़ में वही चहक थी। मगर साथ ही मैंने एक खतरा भी महसूस किया कि यह मासूम कहीं मुझे कोरे जवानी जमा खर्च वाला इन्टलएक्चुवल ही न समझ बैठे। लिहाजा कहीं चलकर काफी-वाफी पीने का प्रस्ताव कर डाला और उसके हाथ को बहुत ही आश्वस्त ढंग से अपने हाथ में ले लिया।

हज़रतगंज के एक सिनेमा हाउस से जुड़ी हुई उस कैफे में मैंने नीला से बुजुर्गाना लहजे में कुछ सुख-दुख की दुनियादार बातें कीं। सामने की मेज पर एक जोड़ा बैठा था। नीला का परिचित निकला। दूर से ही दुआ-सलाम हुई। नीला ने बताया कि मोहल्ले के डाक्टर साहब हैं। मुझे इस समय डाक्टरी से कोई दिलचस्पी नहीं थी—या हद से हद ऐनेटामी-फिजियोलॉजी तक थी। मगर नीला ने डाक्टर का प्रसंग छोड़ा नहीं।

"इन्होंने, सुनिए दो शादियाँ की हैं।"

"हूँ।"

"पहले वाली छोड़ रखी है।"

"अच्छा। यह दूसरी है ?"

"हाँ। बहुत पैसे वाला आदमी है।"

"दो-ढाई सौ रुपये रोज की इन्कम है इसकी।"

"हूँ !"

"इसके पास दो तो कारें हैं। एक आपने बाहर देखी होगी। क्रीम कलर की। दूसरी काली है।"

"अच्छा।"

"सुनिए ! यह यहाँ का माना हुआ रेस्तराँ है। यहाँ सिर्फ स्टैंडर्ड के लोग आते हैं।"

"हूँ।"

"हम लोग तो कई बार यहाँ आ चुके हैं, पहले।"

(हम लोग ? पहले ?···छोड़ो इस किस्से को) अच्छा। हाँ, है तो बढ़िया जगह।

मुझे कुछ सूझा। मैंने बेयरे को पाइनेपल पेस्ट्री लाने को कहा। जाने क्यों मुझे 'गेलार्ड' की याद हो आई थी। जहाँ काफी के साथ पाइनेपल पेस्ट्री लाजिमी तौर पर दी जाती थी। या शायद, हम लेते थे। अब उस हम का किस्सा छोड़िए।

हज़रतगंज से चले। नया पुल, इससे पहले स्टेडियम। यूनिवर्सिटी, रास्ते में दाहिने हाथ पर हनुमान जी का मन्दिर। मैंने हाथ जोड़े। रिक्शे में बैठे-बैठे। रिक्शा बहुत देर तक यूनिवर्सिटी कैम्पस में घूमता रहा। छुट्टी का दिन था। यूनिवर्सिटी बन्द थी।

मैंने कहा—"जी करता है यहाँ ट्राँसफर करवा लूँ। ईवनिंग क्लास में एडमिशन ले लूँगा। शाम को दो किताबें उठाईं और चल दिये।" वह खुश हुई। "हाँ, आपका ट्राँसफर भी आसानी से हो जाएगा।"

दूसरे ही क्षण मैं कुछ और सोचने लगा—इसे कहीं पता चल जाए कि मैं शादीशुदा हूँ और पत्नी से मेरे सम्बन्ध काफी हद तक बिगड़े हुए हैं तो ? अभी तो यह सोच रही है कि सौदा घाटे का नहीं है। इसकी नज़र में मैं एक खाता-कमाता आदमी हूँ।

मुझे बस ले-देकर सिर्फ अपने ब्रीफकेस का ही खटका था। जो उस ने हज़रतगंज में 'आप थक गए होंगे' कहकर आग्रहपूर्वक मुझसे ले लिया था। यूनिवर्सिटी से रेज़िडेंसी गए।

रेज़िडेंसी के भीतर बहुत खुलापन था। सुकून-सा मिला। नीला थी। एक बहुत अच्छी लड़की जो अपने बदन की भीनी-भीनी खुशबू लिए मेरे साथ घूम रही थी। उसके हाथ में मेरा ब्रीफकेस था। दूसरा हाथ मेरे हाथ में था।

शुक्रवार को एण्ट्री फ्री रहती थी। उस दिन शुक्रवार ही था। 'वी आर लकी!' मैंने कहा। गाइड हमारे पीछे लगे। परन्तु नीला ने पसंद नहीं किया। वह नहीं चाहती थी कि दिखाने के मामले में उसका स्थान और कोई ले।

एक गाइड लोगों को समझा रहा था। हम भी रुककर कुछ समय तक सुनते रहे। दीवारों पर चित्र लगे थे। ये चित्र गदर के एकदम बाद बनाए गए थे। इनमें से अधिकतर की प्रिंटिंग इंग्लैंड में हुई थी।

उसी गैलरीनुमा कमरे में लगे संगमरमर के स्मृतिचिह्न ने मेरा मूड बदल दिया था। मैं भावुक हो उठा। एक बेवकूफ आदमी की तरह सोचने लगा था। मुझे लग रहा था कि मैं सुसाना से प्यार करता हूँ।

नीला उस समय दूसरे कमरे में तोप के गोलों का ढेर देख रही थी। उसे आश्चर्य हो रहा था। इतने भारी गोले फेंके कैसे जाते रहे होंगे। सुसाना को भी क्या मालूम रहा होगा?

सुसाना पामर भले ही उन्नीस साल की थी। परन्तु वह महत्वपूर्ण रही होगी। उसमें एक खास गरिमा रही होगी। उससे छिपकर प्यार करने वाले कई होंगे। फौजी अफसर और उनके लड़के। परन्तु मुझे विश्वास था कि वह बड़ी रिजर्व्ड किस्म की लड़की थी। वह कुछ भी तय नहीं कर पाई होगी। मेरी देशभक्ति इस अबोध भक्ति से ज़्यादा टकराती कि इतने में नीला ब्रीफकेस झुलाती मेरे पास आ गई और ध्यान से पत्थर को पढ़ने लगी।

मैंने पूछा, "क्या सुसाना शेर की गन्ध से परिचित थी?"

नीला को फिर अटक-अटककर हंसना पड़ा।

हम बाहर जाने लगे तो एक आदमी बड़ी शीरी ज़ुबान में बोला—

"हुजूर। तहखाना नहीं देखिएगा?" हम मजबूर हुए तहखाना देखने के लिए। तहखाने की गोलाई में सीढ़ियाँ उतरती थीं। नीचे तक काफ़ी लम्बा रास्ता था। उतरते हुए हम काफ़ी करीब आ गए। कुछ अजीब सुनसान-सा था। हमारे अलावा और कोई आदमी सीढ़ियाँ चढ़ता-उतरता नज़र नहीं आ रहा था। कुछ भय-सा लगा। हम सट गए। मैंने नीला की कमर में हाथ डालकर उसे अपने करीब खींच लिया। वह चुप रही। उसकी आँखों में तहखाने के प्रति भय साफ़-साफ़ झलक रहा था।

मैंने सान्त्वना देने को उसकी पीठ पर हाथ फिराया। खासा मोटा कार्डीगन पहने हुई थी। मैंने कहा—"चलो! वापस चलें। इस तहखाने में जाना ठीक नहीं।" उसने समर्थन किया। और हम लगे-लगे वापस सीढ़ियाँ चढ़ने लगे।

भूल-भुलैया में कहीं खो न जाएँ—इस ख़याल से हम कुछ लोगों के पीछे-पीछे चले। गाइड लेना गवारा नहीं था। यह और बात थी कि जिनके पीछे हम चले थे वे जल्दी ही कहीं खो गए। हमें ज़्यादा परवाह भी नहीं थी। ऐसे खो जाने के मौके रोज-रोज थोड़े ही आते हैं।

पहले ऊपर छत पर पहुँचे। वहाँ छत के चारों ओर मुडेरों पर झरोखे-नुमा बन्द कमरे से बने हुए थे। उथले-उथले ब्लाइण्ड होल जैसे। छत से एक रास्ता अन्दर भूल-भुलैया के लिए उतरता था।

हमने देखा—लोग इस रास्ते की सीढ़ियाँ उतरते हुए, जब गले तक छत की सीध में आ जाते हैं तो छत की सतह को ध्यान से देखने लगते हैं। दो तीन बंगाली लड़कियाँ उस समय यही देखकर बतिया रही थीं। नीला ध्यान से उनका वार्तालाप सुनने लगी, जो बँगला में हो रहा था। फिर उसने बताया—"यहाँ से ऐसे होकर देखने पर प्रतीत होता है कि छत पर आगे एक झील बनी है। छत की सतह, पानी की सतह जैसी लगती है।"

हम सीढ़ियों से उतरे। जब हमारी आँखें छत की सतह के बराबर आ गईं तब हमने संयुक्त रूप से यह कौतुक देखा। यह बात नीला के

लिए भी नई थी। हालाँकि वह पहले यहाँ आ चुकी थी। हम आश्चर्य से इस धोखे की झील को देखते-देखते, एक-दूसरे को देखने लगे। नीला का चेहरा भरा हुआ और तराशा हुआ था। उसकी आँखों में एक झील दिखाई पड़ती थी, जो लगता था चाँदनी में नहा रही हो। मैंने उससे कहा—"अब ब्रीफकेस मुझे दे दो। तुम काफी समय से उठाए हो। थक जाओगी।" परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। उसे अच्छा लग रहा था। मैंने सोचा चाँदनी में नहाई झील और चाँदी में नहाई झील में क्या फर्क है ?

भूल-भुलैया में तीन मंजिलें थीं। एक छत पर और दो नीचे। ये नीचे की मंजिलें दरअसल बाल्कनीनुमा बनी थीं। इनमें किसी न किसी सूरत से, नीचे वाला बड़ा हॉल जरूर दिखाई देता था। उसी के गिर्द सब गलियारे थे। जाने कितनी राहें खुलती जाती थीं। दरवाज़े और रास्ते। बस चलते जाइए। और सहसा पाएँगे कि निकलने का रास्ता नहीं मिल रहा है।

पहली बार बहुत सावधानी से सीधे-सीधे चले। सफलतापूर्वक दोनों मंजिलों में होकर वापस छत पर लौट आए। कुछ मज़ा नहीं आया। भूल-भुलैया में भोली-भाली के साथ जाओ और रास्ता भी न भूलो। मैंने फिर किस्मत आजमाने का प्रस्ताव रखा। नीला को यही फिकरा जाने क्यों दुर्बोध मालूम हुआ। सोच में पड़ गई पर साथ हो ली। और इस बार सचमुच खो गए।

सबसे निचली मंजिल पर थे और उससे ऊपर जाने की राह ढूंढ़े नहीं मिल रही थी। जैसे-जैसे समय बढ़ता जाता था हम वेतहाशा चलते जा रहे थे। हर दूसरे-तीसरे दरवाज़े से प्रवेश करते और घूम-फिरकर या तो वापस जहाँ से चले थे, वहाँ पहुँच जाते या वह रास्ता आगे जाकर बन्द हो जाता। कुछ लोगों के भागने, खिलखिलाने और ज़ोर-ज़ोर से बातें करने की आवाजें ज़रूर सुनाई देती थीं परन्तु दिखता नहीं था। किसी तरह ऊपर की मंजिल का रास्ता मिला। यहाँ आकर छत की ओर जाने

के बजाय हम फिर इधर-उधर घूमने लगे। अब कुछ विश्वास हो गया था कि जब चाहेंगे ऊपर का रास्ता तलाश कर लेंगे। काफ़ी समय यूँ ही बीत गया। मुझे लगा कि हम यहाँ घूम नहीं रहे हैं। कहीं जाने का रास्ता तलाश रहे हैं।

मैं कुछ परेशान-सा हुआ। परन्तु नीला बेफिक्र थी। मैंने बाहर जाने का रास्ता ढूँढ़ना शुरू किया। कई रास्ते आजमाए। हम फिर तेज़ी से चलने लगे थे। कभी ऊपर आते थे तो कभी नीचे पहुँच जाते थे। नीला के चेहरे पर अलसायापन फैलता जा रहा था। उसने मुआफी माँगती हुई उवासी भरी, मुझे डर हुआ कि भावुकता मुझे कहीं डरपोक न बना दे।

नीला मुझे परेशान देखकर मुस्कराई। मैं समझ रहा था। इस जगह मैं अजनबी ज़रूर था परन्तु उस बालिका से तो इन मामलों में कुछ अधिक समझ रखता था। इसीलिए लखनऊ आने का निमंत्रण स्वीकार करते समय उससे आए-गए मगर गहरे अन्दाज में यह समझौता करा लिया था कि वक्त अच्छा बितवाना।

आखिर को मैं उसका हाथ पकड़कर एक सँकरे रास्ते पर बढ़ गया। आगे जाकर अँधेरा-सा छाने लगा। वह रास्ता काफ़ी अन्दर तक हमें ले जाकर बन्द हो गया था। बन्द होने की जगह वह कुछ इस तरह से मुड़ गया था कि एक अलग-थलग जगह बन गई थी। बिलकुल एकान्त। साथ ही अन्धेरी भी। स्थान निरापद था मगर कोई बहुत अच्छा भी नहीं था। पुरातन गंध से कण-कण महक रहा था। ठण्डी बेजान दीवारें और चिकना सख्त फर्श—हाँ! धूल इतनी नहीं थी। यह आश्चर्यजनक बात थी। सीलन की उपस्थिति से वहाँ का सूनापन कुछ कम प्रतीत होता था। इस भूल-भुलैया में हम एक काले रंग का ब्रीफकेस अपने साथ लेकर आए थे। वह एक काम की चीज़ थी। और उसके भीतर भी काम की ही चीजें थीं जिन्हें मैं तफरीह के मौकों पर हमेशा साथ रखता हूँ। नीला ने ही ब्रीफकेस खोला। न जाने कैसे उसे सब मालूम था। कौन सामान कहाँ

रखा गया है ? इन लोगों को कौन ठीक-से समझ पाया है । मासूमियत की माया अपरम्पार है ।

भूल-भुलैया से बाहर निकले तो धूप पूरी तेज़ी पर थी । बाहर कुछ दुकानें थीं । कुछ ठण्डा-वंडा पीकर हम ताज़ादम हो गए । मैंने सुझाव दिया—"गर्मी लग रही हो तो कार्डीगन उतारकर ब्रीफकेस में रख लो ।" उसने कहा—"नहीं । ठीक है ।" उसे मालूम नहीं था । लाख झाड़ने पर भी कार्डीगन पर उसकी पीठ से धूल नहीं हट पाई थी । बाहर धूप में साफ चमक रही थी । कहता भी तो कैसे । चुप रहा । मेरे पुलओवर की कोहनियाँ और आस्तीनें नाकाबिले बर्दाश्त हो चुकी थीं । मैंने तो उतारकर कन्धे पर डाल लिया । अगली मंजिल—छोटा इमामबाड़ा ।

हमारे अलावा कुल मिलाकर एक जोड़ा वहाँ था । मैं इस जोड़े को रेज़ीडेंसी से ही देख रहा था । ये लोग आगे-पीछे हमारे साथ-साथ चल रहे थे । बड़ी मोहब्बत से वे दर्शनीय वस्तुएँ एक-दूसरे को दिखाते और बार-बार आँखों से प्यार उँडेलते । इस बार मैंने उनकी बातों पर ग़ौर किया । ये लोग हर जगह गाइड करते थे । पत्नी वास्तव में सुन्दरी थी । चन्दन का बदन टाइप । —"हाय ! फर्श कित्ता अच्छा है ।" वह कह रही थी । उसके मियाँ नंगे पावों से फर्श का अनुभव करके बड़े उत्साह से सहमत हुए । मैं और नीला एक-दूसरे को देखकर आँखों ही आँखों में मुस्कराए । अब हम ऐसा कर सकते थे । हालाँकि हमारे समाज में इस तरह गहराई से एक दूसरे की आँखों में देखकर मुस्कराना, सिर्फ पति-पत्नी के लिए जायज है ।

रोमानियत ज़्यादा टिकी नहीं । मुझे अपनी पत्नी का ध्यान हो आया । शरीर से न सही परन्तु मन से वह पक्की औरत थी और अक्सर अपनी ही ठसक में रहती थी । पहले-पहले तो मुझे लगता रहा कि मैं अच्छी तरह एडजस्ट नहीं कर पा रहा हूँ । मैंने कोशिश भी की, परन्तु पति-पत्नी पथ-प्रदर्शक को कई बार बाँचकर भी मैं गले से नीचे नहीं उतार पाया । दोस्तों के बेहद इसरार के बावजूद ।

शादी के साल भर बाद तक मैं खुद को कसूरवार समझने की भावना से पीड़ित सा रहा। फिर अपने-आपसे हमदर्दी जताने लगा था। और मैंने फिर कभी पत्नी से लड़ाई या सुलह की कोई बात नहीं की। इससे बड़ा गलत शक हो गया। वह लोगों से मेरे उखड़ेपन की शिकायत करती और साथ ही कहती कि पहले मैं उसकी खूबसूरती पर जान छिड़कता था, तारीफ करते नहीं थकता था, अब किसी (जालिम) के सिखाने पर बदल गया हूँ। उसका इशारा मेरे माँ-बाप की तरफ होता था। क्योंकि उसे विश्वास था कि मेरे जैसे आदमी (?) पर कोई तो रीझने से रही। हो सकता है ऐसा सोचना मेरी खुद की कमज़ोरी रही हो, परन्तु सबसे चिढ़न-भरी बात यह थी कि उसे बहस करने की बुरी आदत थी।

घबराकर मैंने नीला की तरफ देखा। वह सन्तुष्ट नज़र आई। मैं यूँ ही बेवजह डर उठा था। उसे क्या पता था कि मेरे में पत्नी के प्रति इतनी चिढ़न भरी है। या, मैं शादीशुदा भी हूँ।

हम लोग रिक्शा करके वापस हज़रतगंज पहुँचे। खाना उसी सिनेमा के साथ वाले रेस्टोरेंट में खाया। नीला ने एक बार को कहा भी कि खाना होटल में खाने की क्या ज़रूरत है। घर चलकर खाएँ। परन्तु मैंने उसे सैलानी समझौते से बाहर की बात कहकर टाल दिया। भूख ज़ोरों से लगी थी और खाना शानदार था। खाने के बाद एक-एक कप कॉफी का नहीं पीते तो कम-से-कम मुझे तो वहीं नींद आ जाती।

"अब क्या करें ?" सोचते-सोचते हम सिनेमा हॉल में जा बैठे। आरामदेह कुर्सियाँ थीं। अलसाए से पड़ गए। नीला तो फिल्म में दिलचस्पी लेती रही, परन्तु मैं इंटरवल तक करीब-करीब सोता ही रहा। इन्टरवल में कॉफी पीकर कुछ चेतना लौटी। अँधेरे में मैंने नीला के सिनेमा देखने में मुग्ध चेहरे की ओर देखा। वह तन्मय होकर चित्र देख रही थी। सौम्य, गम्भीर और निर्लिप्त। उसने मेरे इस तरह देखने पर कोई प्रति-

क्रिया नहीं दिखाई। हाथ तक नहीं हिलाया। मैं इस निर्लिप्तता पर मुग्ध हो उठा। मैंने मन में उमड़ते प्यार को किसी तरह रोका और बहुत कोमलता से उसके बालों पर हाथ फिराया और गालों को सहला दिया। कोई डर नहीं था। हमारे पीछे एक जोड़ा बैठा था और बगल में भी। मुझे नीला की आश्वस्त निर्लिप्तता की तुलना में अपनी भावुकता खासी अपराध भावना की मारी मालूम होने लगी।

हॉल से बाहर निकले तो अँधेरा हो गया था। एकदम रात। हज़रतगंज जगमगा रहा था। तरह-तरह की रोशनियों से भरपूर। ये रोशनियाँ कितनी सतहों पर फिसल जाती थीं। इस बाज़ार के बहुत से हमदर्द रौनक बढ़ाने के लिए कोशिशें कर रहे थे। कहकहे लगा रहे थे। अकड़ कर चल रहे थे। मस्ती और चुस्ती यों ही सड़क पर लुटाते जा रहे थे। मुझे लगा जो ये चाहते हैं वह हो नहीं पा रहा है। एक मंच सजग अभिनेता की तरह ठिठका खड़ा है—हज़रतगंज। इस क्षण मुझे भी हज़रतगंज से हमदर्दी हुई। मैंने लाटरी का टिकट खरीदने का प्रस्ताव रख डाला। टिकट नीला ने छाँटा, यह कहते हुए कि 'मैं बहुत अनलकी रही हूँ।' मैं नीला के हाथों अपना भाग्य आजमाने की खुशी में था। वह भी सिर्फ एक रुपये में। या, कुछ और बात थी। भाग्य के बारे में ज़्यादा सोच-विचार नहीं किया करता। नीला मेरे लिए लाटरी का टिकट छाँटकर निकाल रही थी। यह अपने आपमें एक सुखद घटना थी। लेकिन मैं सुखी से ज्यादा सुखी-दुखी होने लगा। विचार आया कि सीधे ही स्टेशन चला जाऊँ। मगर वह सरासर बदतमीज़ी होती।

उसके घर भी जाना पड़ा। मुझे तो डर लग रहा था। पूछताछ कर के मेरा सुराग न लगा लिया जाए। मैं कौन दूर का आदमी था। सिर्फ़ चव्वन किलोमीटर का फासला था। मिनटों में खबर पहुँचती है। खासतौर पर बुरी खबर। जब रिक्शा वहाँ पहुँचा तो मैंने महसूस किया—

सब इकट्ठे होकर हमारे बारे में ही बातें कर रहे थे। परन्तु मेरी आशंका निर्मूल थी। वे लोग तो मेरे को लेकर खुश नज़र आ रहे थे।

मुझे लगा नीला पर कस कर डाँट पड़ेगी। सुबह से वह घर से गायब थी। नहाई-धोई तक नहीं। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। उन लोगों ने मेरा हार्दिक स्वागत किया। बड़े आदर से रिक्शे से उतारकर अन्दर लाए। जबकि मेरा प्लान नीला को वहाँ छोड़कर सीधे स्टेशन फूटने का था। यह मेरी अपनी ही कमज़ोरी थी। अभी पर्दा तो उठा नहीं था। उन लोगों के लिए चाहे मैं लाख विजातीय सही परन्तु एक ऐसा खाता-कमाता लड़का था जो नीला को इतना पसन्द था कि उसके साथ सुबह से बिना खाए-पिए गायब रही।

हमें डाँटा भी गया। दोपहर को घर आकर खाना न खाने के लिए। उसकी माँ ने तो मेरे पर बहुत स्नेह उँडेला—आँखों से और वाणी से। पास-पड़ौस की दो-तीन बंगाली औरतें हँसती-खिलखिलाती मुझे देखने आईं। रुकने के आग्रह हुए। 'यह शहर एक दिन में घूमा नहीं जा सकता।' लोगों ने कहा। मैंने मजबूरी ज़ाहिर की। आज ही वापस लौटकर जाना होगा।

चाय पीनी पड़ी। उसकी माँ एक प्लेट में चार शामी कबाब सजा कर लाई। उस घर की यह खास पसन्द मालूम होती थी। क्योंकि सब उसे खाने के लिए बार-बार आग्रह करते थे। मुझे कुछ विशेष स्वादिष्ट नहीं लगे। फिर भी एक आध खा ही गया। इस बीच नीला कहीं भीतर चली गई थी।

उनका घर जैसा था, वैसा था। फर्नीचर के नाम पर उस कमरे में दो लकड़ी के चौड़े-चौड़े तखत पड़े थे। मच्छरदानियाँ ऊपर टँगी हुई थीं। एक लम्बी पुरानी मेज़ थी, और कुछ सस्ते किस्म के किताबों से अँटे बुकशेल्फ। नीला के भाई-बहन इसी कमरे में पढ़ते थे। सफाई काफी थी। भाइयों में जो बड़ा था, वह आई. टी. आई. कर रहा था, टर्नर-ट्रेड में। उससे छोटा बी० एस-सी० फाइनल में था। मैं उन लोगों से

बातें करता रहा। मेरा बातें करने का ढंग हमेशा की तरह प्रभावशाली था। कुछ मैं अधिक सतर्क भी था। जब बी० एस-सी० वाले लड़के से मैं अंग्रेज़ी में बात करता, तब नीला की माँ प्रसन्नता से मेरा मुख देखे जाती थी।

इसी बीच बड़ी कायरता मेरेमें आ गई थी। मैं अपने-आपको धिक्कारने लगा था। बड़ी बेवकूफी से भरे तरीके से मैं उन लोगों को बताना चाहता था कि मैं विवाहित हूँ। खामोख्वाह मुझे ऐसा लग रहा था कि इस सत्य को स्वीकारने के बाद मैं काफी हल्का हो उठूँगा। मेरे दिल से कोई काल्पनिक बोझ उत्तर जाएगा। उसी समय अगर नीला न लौट आई होती तो शायद मैं कुछ बक गया होता।

मैंने नम्रतापूर्वक जाने की आज्ञा चाही। वे सब उठ खड़े हुए। मैं सबको हाथ जोड़ रहा था। ऐसा लग रहा था कि नीला मुझे छोड़ने स्टेशन तक जाएगी। मुझे कुछ असंगत सा मालूम हुआ। मैंने कहा—"मैं अकेला ही मज़े में निकल जाऊँगा। चारबाग कोई दूर तो है नहीं। आप लोग आराम करिए। छोड़ने जाने के लिए किसी को स्टेशन तक परेशान होने की ज़रूरत नहीं है।"

नीला नहीं मानी। उसने कहा—"मुझे तो उस ओर जाना ही है। एक सहेली से मिलना है। वह स्टेशन के नगीच ही रहती है।" वह 'नजदीक, को 'नगीच' करके बोलती थी। यह उसकी बड़ी मासूम आदत थी।

और हम चल पड़े थे। उसकी माँ ने जल्दी ही, फिर आने का निमंत्रण सस्नेह दिया। तब तक नीला के पिता भी कलकत्ते से आ जाएँगे। इस समय सचमुच उनकी आँखें भर आई थीं।

नीला के सर पर हाथ फेरते हुए उन्होंने बताया कि नीला बहुत ही सुशील और समझदार लड़की है। भोली और बिल्कुल सीधी। अपनी मर्जी से नौकरी कर रही है। नहीं तो, उन लोगों की विशेष इच्छा नहीं है। उसके कमाए रुपयों को वे अलग जमा कर रहे हैं (दहेज जुटाने के लिए)।

नीला मन में न जाने क्या सोचकर मुसकराए जा रही थी। उसे वास्तव में मेरी ज़रूरत थी। और मैं तो ऐसा फँस चुका था कि इस जन्म में छूटना मुश्किल ही था। सोच रहा था—तलाक वग़ैरह कैसी घिनौनी बातें होती हैं। और कोई रास्ता था ही नहीं। ज़िन्दगी भर एक बोझ मुझे ढोना ही था। 'अच्छे वक्त' के बदले में 'अच्छा जीवन' भला मैं कैसे दे सकता था।

रास्ते भर नीला कहती रही—"अभी पूरा शहर नहीं देख पाए थे। मुझे एक दिन और आना चाहिए। रात को यहीं रुकना होगा, चाँदनी में गोमती के किनारे बैठने के लिए। मैं हूँ-हाँ करता रहा। मुझे लगा कि नीला कहना चाहती थी कि मैं हर इतवार को वहाँ आ सकता हूँ। कितनी मधुर अपेक्षाएँ कर रही थी नीला। मैं मन-ही-मन अपने-आपको मनहूस ठहराने लगा। फिर अपने भाग्य को। फिर समाज-वमाज को।

दिल्ली एक्सप्रेस प्लेटफार्म नम्बर पांच से छूटती थी। वहाँ जाने से पहले हम प्लेटफार्म नम्बर एक पर रुके। स्नैक बार पर काफी पीने के लिए। नीला ने स्नैक-बार के काउण्टर पर एक-बार ब्रीफकेस को खोल कर भीतर कुछ देखा-टटोला। फिर आहिस्ते से बन्द किया और उस पर कोहनी टिकाकर कॉफी पीने लगी। मुझे शक हुआ कि नीला कहीं मेरे ब्रीफकेस से तो प्यार नहीं करने लगी थी। हो सकता था। यह विषय मेरे सोचने के अधिकृत क्षेत्र से बाहर का था। कम-से-कम असलियत तो यही थी। मेरा शक कहीं गया नहीं।

हम पाँच नम्बर प्लेटफार्म पर पहुँचे। ओवर ब्रिज पर चढ़ते हुए लगने लगा कि हम विदा होने जा रहे थे। ऐसी कोई लम्बी विदा नहीं होनी थी। दूसरे दिन हम फिर मिलेंगे ऑफिस में, और दूसरे शहर में। मैं अपनी टेबुल पर धूल अँटे फेफड़े लिए बैठा रहूँगा। यह गुजरते हुए मुझे विश करेगी और बस। मुझे दुःख होने लगा। स्थितियाँ हमें क्यों हर जगह से

लौटा लाती हैं। परन्तु मुश्किल तो ये थी कि लाख ज़ोर लगाने पर भी मैं उससे किसी सम्बन्ध का आधार नहीं ढूंढ़ पा रहा था। हम अलगाव की स्थिति में आते जा रहे थे।

एक डिब्बे के सामने बेंच पर बैठकर हम बातें करने लगे। ऐसे समय में फार्मल बातें ही चल पाती हैं। "अब तो आप आते ही रहेंगे।" कहकर अधिकारपूर्वक उसने मेरी हथेली को सहज भाव से पकड़ लिया। मेरा दिल धड़क उठा। वह बड़े आराम से मेरी अँगूठी का नग देख रही थी।

"आप अब बैठ जाइए। गाड़ी चलने को ही है।" उसने बड़ी स्निग्धता से कहा।

मैं तेज़ी से अन्दर गया। खिड़की से बिल्कुल सटकर बैठ गया। वह वहीं खड़ी थी। मेरी हिम्मत लौट आई थी। शायद इसलिए कि अब मैं वापस लौटता हुआ यात्री बन गया था। मैंने नीला से कहा—'ज़रा अपना हाथ दिखाओ।" उसने बिना सोचे, मुग्धभाव से अपना दायाँ हाथ खिड़की के अन्दर कर दिया। तब तक मैंने अपनी अँगूठी उतारकर मुट्ठी में ले ली थी। उसके हाथ को लेकर मैंने अधिकारपूर्वक अँगूठी उसकी अँगुली में पहना दी। "यह मेरी लखनऊ यात्रा की यादगार रहेगी।" कहते-कहते मैंने उसके हाथ को धीरे से बाहर कर दिया, क्योंकि गाड़ी सरकने लगी थी।

वह बराबर हाथ हिलाती रही। ओवर ब्रिज पर चढ़ते-चढ़ते भी। जाने कैसे मेरे मस्तिष्क में सुसाना पामर की एक आकृति कौंध गई। मेरा यह इतिहासबोध अक्सर ऐतिहासिक दुर्घटनाओं का कारण बना है।

व्यूह

सायरन होने से पाँच मिनट पहले ही पूरी फैक्ट्री मेन गेट पर आकर खड़ी हो जाती है। साढ़े-चार बजे गेट खोल दिये जाते हैं। सायरन को पूरा सुनने की फ़ुरसत किसी को नहीं होती। दरवाज़ों से पिचकारियाँ-सी छूटने लगती हैं।

वहाँ रेलिंगदार सँकरे रास्ते हैं। जो छोटे-छोटे लौह-कपाटों तक जाकर खुलते हैं।

हम वेलफेयर ऑफ़िस की इमारत के सामने खड़े रहते हैं। सायरन को पूरी लम्बाई तक सुनते हुए। समय के साथ-साथ भीड़ के दबाव की पिचकारियाँ मन्द पड़ती जाती हैं। बेताबी में कई बार मेरा पैर उठ जाता है। चल पड़ने की तीव्र इच्छा होती है। पिताजी का हाथ साइकिल के हैंडल पर से थोड़ा उठ जाता है। अंकुश की तरह। थोड़ा रुको। बिल्कुल घट जाने दो। मैं फिर से दीवार पर लगे नोटिस बोर्ड को ताकने लगती हूँ। बेमतलब।

साथ की लड़कियाँ सायरन होने से पहले ही बाहर हो जाती हैं। उन्हें कम्पनी की बस में जाना होता है न। फैक्ट्री में काम करने वाली महिलाओं को दस मिनट पहले निकल जाने की छूट है। लेकिन मेरे साथ तो दूसरा ही बन्धन है। पिताजी का। वे ठीक साढ़े चार बजे सेक्शन छोड़ते हैं। छोड़ भी दें तो मुझे लेकर पहले बाहर भी तो नहीं जा सकते। एक दफे और लड़कियों के साथ में बाहर निकल गई थी। वे सब बस

स्टैंड को चली गई। मैं पिताजी की राह देखती गेट के पास खड़ी रही थी। उस दिन के बाद से आज तक वहाँ जाकर खड़े होने की हिम्मत नहीं हुई।...गुज़रते हुए झुंड-के-झुंड, वर्करों की छींटाकशी और फिकरेबाज़ी। बाप रे! मैं तो डर गई थी।...कुछ तो खुलेआम हाथों और आँखों का इस्तेमाल करते हुए अपनी भावनाओं का इजहार करने लगे थे।

ऐसे ही, पहली दफे मैं और पिताजी भीड़ के साथ बाहर निकले थे। उस दिन की याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। रेलिंगदार रास्ता सँकरा है कि दो आदमी आजू-बाजू नहीं चल सकते। मैं पीछे रह गई थी। आगे-पीछे आदमी। दबाव। मुहाने से छूटने तक जाने कितने हाथ मेरे बदन पर रेंगते रहे थे। और, निकलते-निकलते उस गजे भाटिया ने कैसा कमीनापन दिखाया था। सबके सामने, एक तरफ से कस के दबा दिया। यहाँ तक कि बाहर इन्तजार करते पिताजी ने भी भाँप लिया था।

वे पहले पहुँच गये थे। साइकिल के सहारे मेरी ओर देखते खड़े थे। सड़क के उस पार। वहाँ तक पहुँचते हुए मैं पसीना-पसीना हो गई। मेरे रास्ते चलती के चुटकियाँ काटी जा रही थीं। और मैं पूरा ज़ोर लगा कर चेहरे को निर्द्वंद्व बनाए उनकी ओर बढ़ रही थी।

इसके बाद यही रास्ता नज़र आया था। भीड़ के बाहर होने तक वेल-फेयर ऑफिस की सीढ़ियों के पास, कंक्रीट की सड़क पर खड़े रहो। कम-से-कम दस-बारह मिनट। मैं अक्सर नोटिस बोर्ड पर चिपके, कई बार पढ़े गए यूनियन के नोटिस पढ़ा करती। बग़ावत की भाषा में छपे परचे। शायद इसी का असर हो। मैं जो मन-ही-मन उबल पड़ती हूँ। हम यहाँ क्यों खड़े रहें। कायर बनें। नाजायज़ तौर पर दस मिनट की कैद भुगतें।...असल में मेरा मिजाज शुरू से ही ऐसा है। बात-बात पर छोटे भाई-बहनों को मार बैठती हूँ। सबसे बड़ी जो हूँ। माँ से तो कुछ सँभलता नहीं। वे बेचारे खामख्वाह पिट जाते हैं। कभी-कभी माँ पर भी चिल्ला पड़ती हूँ। भले बाद में कितना ही हो-हल्ला होता रहे।

यहाँ खड़े-खड़े मैं खीझती हूँ। अपने ही ऊपर। पिताजी की तरह

ठंडा बने रहना मेरे लिए बड़ा मुश्किल है। भाव-हीन चेहरा लिए खड़े रहते हैं। कोरे कागज़ की तरह। साइकिल थामे बल्कि यह साइकिल उनके ठंडेपन का सबसे बड़ा कारण है।

साइकिल से उनकी गहरी आत्मीयता है। बचपन से देखती आ रही हूँ। साइकिल उनके व्यक्तित्व के सँवारे हुए रूप की साथिन है। जब उन्हें कहीं साइकिल पर जाना नहीं होता, वे उघाड़े बदन घर में घूमते रहते हैं। कच्छा पहने। उस समय वे कुछ और लगते हैं। न तो वह पुरानी कमानी वाला चश्मा होता है, न हीं चार्ज-मैन ग्रेड वन वाली मुद्रा।...वे खाली नहीं बैठते। झाड़ू लेकर घर धोने लगते हैं या फिर कपड़े। माँ के वैसे-वैसे कपड़े तक धो डालते हैं।

मैं मन-ही-मन मनाती हूँ। ये साइकिल उठाकर कहीं जाएँ। कुछ आदमी से दिखें। साइकिल उठाने से पहले वे बनियान, कमीज़ पहनते हैं! खूँटी से उतारकर पैण्ट चढ़ाते हैं। बेहद चौड़े पाँयचों को स्टील के क्लिप लगाकर चुस्त बनाते हैं। चश्मा मँगवाते हैं।

उन्हें साइकिल पर चढ़ते देखकर मैं चैन की साँस लेती हूँ।

वैसे भी यह साइकिल मेरे और पिताजी के बीच की कड़ी है! शुरू से। अब नौकरी करने लगी हूँ तब भी यह कड़ी बरकरार...जाने कब तक रहेगी ?

इसी साइकिल पर पिताजी मुझे स्कूल छोड़ने जाते थे। लंच टाइम में वापस ले जाने के लिए गेट के सामने खड़े रहते थे। उस समय मुझे साइकिल पर सवारी करना बहुत अच्छा लगता था। मैं इसे चड्ढी खाना कहा करती थी। छोटे भाई-बहन अब भी कहते हैं। साइकिल पर चड्ढी खाने के लिए ज़िद करते, रोते हैं।

सबसे ज़्यादा चड्ढी मेरे ही हिस्से पड़ी। कॉलेज के दिनों में भी वह सिलसिला चलता रहा। कभी अकेले नहीं गई। बोर्ड की परीक्षा के दिनों

में भी। मेरा सेंटर शहर में पड़ा था। पिताजी शार्टलीव या पैंटलीव लेकर मुझे छोड़ने और लेने जाते थे।

धीरे-धीरे एक चीज़ और बीच में आ गई। जो मुझे साइकिल जितनी ही प्रिय लगती थी। पिताजी की गंध। शायद पसीने और देह की। स्नेहासिक्त और पुरुष गंध। उन दिनों में कैरियर पर बैठकर चलती थी। हवा से फूलती हुई उनकी कमीज से लगातार वह खमीरी गंध आती रहती थी।

मैं उस लम्बे रास्ते पर परीक्षा की घबराहट दबाने के लिए अंतरंग गंध का सहारा लिया करती थी।

बड़ी हो जाने पर भी यह काम्पलेक्स बना ही रहा।

यहाँ, फैक्ट्री के लिए इंटरव्यू देने आई थी, तो यह मालूम होते हुए भी कि मेरा सलेक्शन निश्चित है, मेरी जान निकली जा रही थी। लग रहा था एक भी सवाल का जवाब नहीं दे पाऊँगी। पसीना छूट रहा था। अच्छा हुआ कि उनका रूमाल लेती आई थी। खैर, लाती तो और किसका। एक वही तो घर में थे जो रूमाल रखते थे। चलने समय बहुत ढूंढ़ने पर भी जब दूसरा रूमाल नहीं मिल रहा था तो उन्होंने एक दिन बरता हुआ अपना रूमाल दे दिया था। जेब से निकाल कर।

उस रूमाल में वही चिरपरिचित गन्ध बसी हुई थी। जो मुझे ढाढस देती थी। सहारा बन जाती थी। बोर्ड का सामना करते हुए मैं बार-बार वह रूमाल निकालकर चेहरा पोंछती रही थी।

इस सबके बावजूद साइकिल पर उनके साथ बैठकर आना खटकता है। अच्छा नहीं मालूम देता। फिर कैरियर पर बिठाएँ तो कोई बात है। वे तो...।

माँ जबसे कैरियर से गिरकर बुरी तरह चोट खा गई हैं, पिताजी ने कैरियर पर बिठाना वन्द कर दिया है। बहुत कहा। मगर उनके मन

में वहम बैठ गया है।

शुरू में आगे डंडे पर बैठकर जाना बड़ा अटपटा लगता था। झेंप आती थी। चुभता बहुत था। अब तो आदत बन गई है। महीनों इसी तरह आते-जाते कोई खास तकलीफ़ नहीं होती। बस फीलिंग-सी बनी रहती है। हम कैसे दिख रहे होंगे। पिताजी के हाथ काँपने लगते हैं तो मैं हैंडिल पर अपने हाथों की पकड़ मज़बूत कर देती हूँ।

पिताजी से इस बारे में कुछ कहने को जी नहीं करता। उस समय खून में लथ-पथ माँ की देह याद करके मन मितलाने लगता है।

वे उस दिन माँ को अस्पताल ले रहे थे। पीछे बिठाए। हमेशा ऐसे ही ले जाते रहे थे। यह भी एक बात है कि माँ को जब भी बाहर कहीं ले गए हैं तो अस्पताल ही ले गए हैं। फैक्ट्री अस्पताल। और किसी जगह माँ को ले जाते मैंने नहीं देखा। साल-दो-साल में एक दफे एम्बूलेंस की सवारी भी करती रही हैं। उस समय वे बुरी तरह से कराहती हुई होतीं।

पिताजी साइकिल भगाते जाते। गेट पर फोन करने। एम्बूलेंस के लिए। अरुण के जन्म के समय तो मैं बहुत छोटी थी। बाकी पाँचों भाई-बहनों के समय ऐसा ही होता रहा है।

उस दिन तकलीफ बहुत ज़्यादा नहीं थी। पिताजी ने ऐम्बूलेंस नहीं मँगाई। वहम भी था। समय नहीं आया है। भुल्लन की माँ कह गई थी—अभी सात-आठ दिन हैं। उधर माँ कहे जा रही थी—अस्पताल ले चलो।

रास्ते में ज़ोरों से दर्द उठा। साइकिल डगमगा गई थी। बाप रे! क्या हालत थी उस दिन हम लोगों की। मुझे तो ऐसी घबराहट चढ़ी थी कि मौत सामने दिखाई दे रही थी। माँ को कुछ हो गया तो इन पाँचों को मैं कैसे पालूंगी। अरुण तो खैर समझदार हो गया है।

राम-राम करके माँ की जान बची। और आगे का झगड़ा भी साफ हुआ। यह भी अच्छा हुआ। नहीं तो...कम-से-कम दो और हो जाते।

छिः ! माँ कैसे कर लेती हैं यह सब। मैं होऊँ तो दो से आगे नाम न लूँ। भाड़ में जाए मौज-मज़ा।

मीरा-वीरा सब मुझ पर हँसती हैं। भले हँसती रहें। मन में महसूस तो करती होंगी। पिताजी के साथ आने-जाने से मैं कितनी मुसीबतों से बची हुई हूँ। वे तो लंच में भी मेरे पास आकर बैठ जाते हैं। दोनों बाप-बेटी साथ खा लेते हैं। इससे एक बचत है—अपने घर का उल्टा-सीधा-पन इन लड़कियों पर ज़ाहिर नहीं हो पाता, जो बड़ी नक्शेबाज़ी से टिफ़िन सजा-सजाकर लाती हैं और एक-साथ बैठकर नुमाइशी तरीके से खाती हैं। पिताजी न आयें तो मुझे भी साथ बैठना पड़े।

हमारे यहाँ हाल ये है कि बन रही हैं तो पूरियाँ ही पूरियाँ बन रही हैं। नहीं तो सब्ज़ी के लिए भी घी-तेल नहीं है। सब्ज़ी वैसे भी आखिरी हफ्ते में आनी बन्द हो जाती है। नगदी का अकाल जो पड़ जाता है। खैर, जैसा भी अच्छा-बुरा होता है, हम दोनों बैठकर खा लेते हैं। किसी को पता नहीं चलता।

सारी फैक्ट्री जानती-समझती है। यह लड़की हत्थे चढ़ने वाली नहीं। मेरे बारे में उल्टी-सीधी अफवाहें भी नहीं उड़तीं। नहीं तो यहाँ कौन बची है। एक से एक चटखारेदार किस्से चलते रहते हैं। हमी लोगों के बीच इतने चलते हैं तो वर्करों की बातचीत में क्या नहीं होता होगा। मेरा तो, बॉस तक लिहाज करता है। लिहाज क्या बेचारा कभी ऑफ़ीशल बातचीत से आगे नहीं बढ़ा। हो सकता है यह मेरी सिर झुकाकर खड़े होने की आदत का नतीजा हो। पहले-पहले कुछ छोकरों ने कोशिश की थी। परन्तु जल्दी ही वे अपना उत्साह खो बैठे।

जिस दिन आई थी, मुझे देखकर काने सूरी ने बड़े रुआब से कहा था—इस मुर्गे को मैं हलाल करूँगा ! सब मुस्कियाँ मार रहे थे। अब वही सूरी है, शराफत से मैडम प्लीज़ कहके बात करता है।

मैं वाकई बहुत चैन से हूँ।...एक्स्चेंज वाली मिस भट्टाचार्य को ही लीजिए। एक अदने से स्वीपर ने हंगामा खड़ा कर दिया। कमबख्त !

रौशनदान पर चढ़कर देखने लगा था। वो भी एक ही चालू औरत है। आग की तरह बात फैल गई थी। अगले रोज धड़ल्ले से आई। मेडीकल सर्टिफिकेट लगाकर अर्जी ठोक दी। स्वीपर के बारह बज गए। अभी तक सस्पेंड हुआ पड़ा है। चलती रहे इन्क्वायरी, अगली के चेहरे पर तो शिकन नहीं पड़ी।...मैं होती तो डूब मरती।

मगर मैं होती ही क्यों ! ऐसे सभी सम्भावित षड्यन्त्रों से बचाव के लिए पिताजी ने व्यूह रच रखा है मेरे लिए। शायद वे खुद ही व्यूह बन गए हैं।

फिर पिताजी के साथ साइकिल पर चलते समय गिरने का डर क्यों लगा रहता है। ज़्यादा से ज़्यादा चोट लग जाएगी और क्या होगा। मेरी कोई माँ जैसी हालत तो है नहीं।...शायद कभी होगी भी नहीं। कमा-कमाकर इन्हीं लोगों को खिलाना है।

डर की वजह शायद पिताजी के हाथों का काँपना है। आजकल जाने क्यों चलाते-चलाते उनके हाथ कँपकँपाने लगते हैं। लगता है मेरी ही वजह से। माँ मुझे गुस्से में आकर 'जवान धड़ल्ली' या 'हायरे तेरी फूटती जवानी' जैसे विशेषण जो देने लगी है। इसका भी कुछ मतलब है।

मैं जाने कैसे इतनी भारी हुई जा रही हूँ।

मीरा उस दिन कह रही थी, 'बेबी डाइटिंग करो। नहीं तो कूल्हों पर चढ़ा गोश्त उतारे नहीं उतरेगा।' मैं मन ही मन हँसी थी। कैसी डाइटिंग ? यहाँ तो कोई डाइट तै ही नहीं है। महीने के शुरू में लाया गया राशन बीसवें दिन ही खलास होने लगता है। पिताजी माँ पर चिल्लाते हैं और माँ मीना और हेमा पर ! 'और डालो सब्जियों में पाव-पाव भर घी-तेल !" असल में मीना बड़े शौक से सब्ज़ी बनाती है। खूब सजा कर परोसती है। बार-बार पूछती है—कैसी बनी। उसी को इस स्थिति का शिकार होना पड़ता है। पिताजी आधा-आधा किलो करके सामान

लाने लगते हैं। इकॉनमी सुधारने की कोशिश में। कभी-कभी अड़ जाते हैं तो एक-आध वक्त सब्जी-दाल कुछ नहीं बनती। छोटे भाई-बहन ऐसे समय जो भी मिलता है उससे खा लेते हैं। चीनी-गुड़-नमक। भून-भान कर। घोल-घाल कर। अरुण कहीं बाहर रुपये-आठ आने खा आता है। मेरा मन नहीं होता, यह सब खाने को। ये भी कोई बात हुई। रोटी में तेल-नमक चुपड़ा और खा लिया। आखिर मैं कमाती हूँ। कभी-कभी भींकने भी लगती हूँ—इस घर का कभी पूरा पड़ेगा या नहीं। मुझे दो टाइम खाना तो ढंग से दो। नतीजा, खूब आशीर्वाद सुनने को मिलते हैं।

अब इसके अलावा कैसी डाइटिंग करूँ। लेकिन बदन है कि ऊटपटाँग तरीके से भरा जा रहा है। खास-तौर से पीछे का हिस्सा। माँ कैसी कानी आँख से देखती है। उसके खुद के पीछे का हिस्सा बिल्कुल सपाट जो है। हेमा और मीना भी लगता है ऐसी ही निकलेंगी। मेरा हाल ये है कि दिन-ब-दिन पिताजी की साइकिल का डंडा छोटा होता जा रहा है।

पिताजी पहले आसानी से बिठा लेते थे। वे थामे खड़े रहते और मैं थोड़ा उचक कर डंडे पर टिक जाती। अब तो कोशिश करनी होती है। मैं बैठती हूँ और ये पूरा जोर लगाकर साइकिल को थामे खड़े रहते हैं। उस समय साइकिल को थोड़ा ऐंगिल पर रखते हैं, इसलिए स्टार्ट होने से पहले उसे खड़ी करने में उन्हें बहुत मेहनत पड़ती है।

किसी तरह चढ़ते हैं तो सीट पर सवार होते-होते मेरे से अच्छी तरह रगड़ जाते हैं। उनका पेट या नीचे का हिस्सा जोर से टकराता है।... अब तो चलाते समय पीठ पीछे बराबर सरसराहट होती ही जाती है।

मुझे यह सरसराहट अपने बहुत नज़दीक होने वाली कोई सरगर्मी जैसी महसूस होने लगी है। मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकती कि यह स्थिति मेरे लिए कष्टप्रद है। कष्टप्रद क्या, यह तो बदलती हुई स्थिति है। मेरे शरीर के नर्जीव हिस्से सनसनाने लगते हैं।

यह बात नहीं है कि मैं बचने का प्रयत्न नहीं करती। अपने को

घुमाऊँ।...खाली ऊपर का हिस्सा घूमकर रह जाता है। इस बढ़े हुए गोश्त के ढेर का क्या करूँ। जिसका कम से कम मेरे लिए कुछ प्रयोजन नहीं है। पहले कोशिश करके कुछ मुक्ति तो पा जाती थी। अब तो हालत यहाँ तक आ पहुँची है कि उनके बदन का कुछ हिस्सा करीब-करीब मेरे ऊपर रखा हुआ ही चलता है।

मैं अपने-आपसे सवाल करती हूँ। क्या मैं पूर्णतः निरापद हूँ। शायद ! मैं इसे कमजोरी समझकर दबाती हूँ। भ्रम है। मेरी अपनी ही कोई ग्रन्थि रिस रही है।...परन्तु यह सच साबित होता जा रहा है। इसके संदर्भ में उनकी गन्ध का असर भी बदलता जा रहा है।

जो भी हो। हम साथ आते हैं। एक दिन भी मैं अकेली नहीं आई। जिस दिन उन्हें छुट्टी पर रहना होता है, मेरी अपने आप ही छुट्टी हो जाती है।

बाहर, फैक्ट्री से घर तक पहचानी और अजनबी निगाहों के जाल हमारे गिर्द कसते रहते हैं। साइकिल अपनी चाल से बढ़ती रहती है। लगता है कोई मुझे बचाए लिए जा रहा है। उन भूखी और अश्लील आँखों से। मुझे, ये राह में खड़ी, आमंत्रित करती आँखें बड़ी खौफनाक लगती हैं। इनका सामना होते ही शरीर चेतने लगता है। इनका बस चले तो मुझे उठा कर ले जाएँ। नोच-खसोट डालें। इन्हें इस मुर्दा गोश्त से लगाव है। साफ झलकता है। जिसको देखो वही नजरें टिकाए रहता है। इससे तो पिताजी का घिराब ही अच्छा। कितना टिकाऊ है यह घिराव !...जिस दिन ये रिटायर हो जायेंगे तब क्या होगा ? मेरी बात छोड़िये। घर का क्या होगा ? अभी हम दोनों कमा रहे हैं तब ये हालत है...।

और मुझे कोई कूल-किनारा कभी मिलेगा कि नहीं। इस देह का कुछ अन्जाम है कि नहीं।...मैं आखिर क्या करूँ। क्या कर सकती हूँ।

कोई मेरे साथ बदमाशी भी तो नहीं दिखाता। सब साले मुझे रिजर्व्ड की तरह ट्रीट करते हैं। खामख्वाह। वे भी जो हरामुद्दीन समझे जाते हैं। भला मैं किसकी रिजर्व्ड हूँ! अपने बाप की?...छि: मैं भी कैसे खयाल पाले रहती हूँ। पिताजी ग्रेट हैं। छँटे आदमी हैं।

वे कभी बौने नहीं होते। हमें ढोते आए हैं और ढो रहे हैं। मैं भी कुछ लोगों को ढो रही हूँ। लोगों को कहाँ, अपने बाप को। मानसिक रूप से। साफ कहूँ। वे भी मेरे शरीर के प्रति सजग हैं। नहीं तो भला इतना इन्तजाम क्यों करते। उन्हें क्या दिलचस्पी है?...किसी को ब्याहने तक पाक-साफ़ बनाए रखने के लिये। मैं नहीं मानती। अव्वल तो मेरे किसी ब्याह के कोई आसार हैं नहीं। फिर होगा भी तो कोई ऐसा नहीं मिलेगा जिसके लिये मुझे इतनी हिफाजत से रखा जाए। सीलबंद।

पिताजी अपने में मर्द भी हैं। मर्द, जो बच्चे पैदा करने की क्षमता रखता है। भयावह। जिसकी अपनी औरत का जिस्म पीछे से सपाट है। अनाकर्षक। फिर भी इस मर्द ने उसके बदन के चिथड़े उड़ा दिये। कैसी टूटी सी पड़ी रहती है। जायों की कतार की कतार देखती।...खैर, मुझे क्या! मैं तो कह रही थी ऐसा मर्द क्या मेरे प्रति गाफिल रह सकता है? यही सोचकर तो साईकिल के डंडे पर बैठे रहना मुझे नहीं खलता। पीछे कपड़ों का सरसराना नागवार नहीं गुज़रता।

रिश्ते के इस व्यूह में हमारे सम्बन्ध गहराते जा रहे हैं। गहराते ही जा रहे हैं।...अपनी-अपनी ज़रूरतों के अर्थ में।

महफ़ूज रहने की आदत पड़ गई है। कोई रिस्क लेने को तैयार नहीं हो पाती। नहीं तो लड़कियाँ स्कूल के दिनों में ही फँसना-फँसाना शुरू कर देतीहैं। शादी होने तक दो चार फसाद खड़े हो जाना मामूली बात है। मुझे मौका भी नहीं मिला। हमारे घर लड़कों का आना-जाना नहीं है।

दफ्तर में ऐसा इम्प्रेशन बैठ चुका है कि अब कुछ करूँ तो तिल का ताड़ बना दिया जाएगा। लोगों को तकलीफ होगी। इमेज टूटने से।

मेरे लिए पक्की सड़क एक ही है। अपने ही घर में खपती रहूँ। एड-

जस्ट होती रहूँ। शारीरिक सजगताओं को अपनी शक्ल में उभरने दूँ।... यह तो एक घेरा है। जो बना रहेगा। मुझे एतराज इसके बने रहने पर नहीं है।...मगर मैं अनुभव करती हूँ कि वे चुकते जा रहे हैं। क्योंकि सिर्फ सोचने-समझने की हदबन्दी में कैद होकर रह गये हैं। नहीं तो उनका शरीर ग्रीक मूर्तियों जैसा सुडौल, तनिक विस्तृत और प्रौढ़ है। जब अंडर-वियर में घूमते रहते हैं तो सदियों पुरानी तस्वीरें उभरने लगती हैं। जी करता है आदम-हौव्वा वाला प्रसंग निकालकर पढ़ूँ।

उनके चुक जाने का अर्थ माँ के संदर्भ में उतना घातक नहीं होगा जितना कि मेरे लिए।...जी करता है कभी खुलकर यह बात कह दूँ। पर मन जो चोर ठहरा। शुरू से, छोटी-छोटी बातें छुपाने की आदत है। माँ की तरह लापरवाह नहीं हूँ। उनके कैसे कपड़े सबकी नज़र पड़ जाते हैं। बल्कि हम सब देख-देखकर ही सब सीख गई हैं। मैं, मीना और हेमा।

मैं तो इतनी सावधान रहती आई हूँ कि इन कपड़ों की बात तो दूर रही, ब्रा-कच्छी वगैरह भी खुले में नहीं सुखाती।

वे सब जानते-बूझते हुए भी अनजान बने रहते हैं। हम लोगों की ओर निगाह ठहराकर देखते ही नहीं।...साइकिल साफ करने के लिए मैले कपड़े की तलाश में कोयलों के ढेर की तरफ जाते हैं। हम लोग गंदे कपड़े वहीं एक गठरी में खोंस देती हैं। जमादारनी ले जाती है।

वे इस गठरी से लटकती हुई कत्तर खींच लेते हैं। नल पर भिगोते हैं। साइकिल चमकाने लगते हैं।

देखकर मन में बड़ी खीझ होती है। इतना भी नहीं समझते। ऐसी गन्दी चीज को हाथ नहीं लगाना चाहिए।

फिर यह दीवार पर टँगी गन्दे कपड़ों की गठरी क्या इनके सिर का बोझ नहीं है। इसे देखकर वे त्रस्त क्यों नहीं होते। आक्रांत क्यों नहीं होते। अन्दर से बहुत मजबूत हैं क्या ?"

साइकिल चलाते हुए उनके हाथ काँपने लगे हैं। खुद भी अनुभव करते होंगे। शायद उतने त्रस्त न हों। जितनी मैं हूँ। वे तो अपने सत्य से सामना करते होंगे। मुझे आगे की फिक्र है।

उनके बाद ?—अरुण। हाँ, वही लाया ले जाया करेगा। अकेली छोड़ देने का तो सवाल ही नहीं उठता।...मैं इधर-उधर हो गयी तो घर का बोझ कौन उठाएगा। कम-से-कम कुछ बरस स्थिति ऐसी ही बनी रहेगी।

काफी समय से यह बात मेरे दिमाग में है।...वेलफ़ेयर ऑफिस की इमारत के सामने प्रतीक्षा करते-करते एक दिन आएगा, जब पिताजी इस भीड़ के साथ बाहर हो जायेंगे। मेरे सामने ही। रिटायर होना ही पड़ता है। उससे आगे मुझे घर के दूसरे मर्द की ज़रूरत होगी। साइकिल के डंडे पर...। एक दिन उसके साथ बाजार गई थी। मुझे आगे बिठाते हुए वह काफी शरमाया था। नेचुरल है। परन्तु घर की परम्परा तो उसे निबाहनी ही होगी। विशेषत: भय पर आधारित परम्परा।

बड़ी सावधानी बरत रहा था। कहीं छू न जाये। मैंने मन में कहा—बरत ले। कहाँ तक बरतेगा! मैं कौन सी डाइटिंग करने जा रही हूँ।...थोड़ा हदबन्दी में घिरा रहे। अपने आप सब अनुभव करने लगेगा। मेरी तरह।

और, वह चुकेगा भी नहीं। मेरे से दो बरस छोटा है। तगड़ा-जवान है।...निभा लेगा। मेरे कहीं भाग-बाग जाने तक। या किसी अनजाने 'आखीर' तक।

हम खड़े हैं। प्रतीक्षा कर रहे हैं, वेलफ़ेयर ऑफिस के सामने मनहूस भीड़ के छँटने की। मुझे तो सोचते रहने की बीमारी सी हो गई है। और कर भी क्या सकती हूँ।

वे साइकिल की सीट पर कोहनी टिकाए खड़े हैं। लग रहा है किसी वक्त भी चल देंगे।

जाला

मैं पहुँचा तब तक बारात अन्दर खप चुकी थी। डिनर में देर थी। वधू पक्ष के लोग आ रहे थे। खास तौर से कारों पर। मैं सजावटी और बनावटी दरवाजे पर ठिठक गया। कुछ औरतें थीं। यह मेरी बुरी आदत है। कार से उतरती, चमक-दमक वाली औरतों को देखना अच्छा लगता है। बावजूद बदन की चर्बीयत के। पता नहीं चर्बी क्या होती है और कहाँ होती है, मुझे तो पीठ पर बनी नाली की गहराई बहुत खींचती है। जितनी गहरी होती है उतना ही नीचे तक फिसलने का मौका रहता है।

दरवाजे पर मेहमानों को कोका-कोला पिलाये जाने की व्यवस्था थी। एक फ्लड-लाइट को वहाँ फोकस किया गया था। अन्दर घुसते हुए लोग और उनके हाथों में, बंधे-लिपटे तोहफ़े खूब चमकते थे। उससे अन्दर वाले की हैसियत का अन्दाज हो जाता था। आने वालों में खाली हाथ मुझे कोई भी नहीं दिखाई दिया। मेरे हाथ में भी साड़ी का पैक था। शायद इसीलिए, पहुँचते ही बोतल थमा दी गई। नहीं तो ऐसे मौकों पर मैं कुछ दबा-दबा सा दिखाई देने के कारण देर में भुगताया जाता हूँ। यह ऐसी कोई खास बात नहीं थी। मुझे अच्छी लगी। बोतल थमाने वाली लड़की बेहद तफ़रीहबाज़ थी। हाथ किसी को रखने नहीं देती थी। परन्तु सार्वजनिक स्थानों पर उसकी अदाकारी बहुतों को ग़लतफहमी में डाल देती थी। और उसके लिए एक मज़े की बात थी।

उनके यहाँ आने-जाने वाली सभी लड़कियाँ इस तरह की होती थीं। कई बार लगता कि सिर्फ नाम का फर्क है। खैर, छोड़िये। मैं उस लड़के की तलाश में था। वह वहाँ दिखाई नहीं दे रहा था।

शाम मैंने उसके बारे में सोचते हुए गुजारी थी। घर के सब लोग शाम होने के पहले ही वहाँ पहुँच कर कई तरह के कामों में जुट गए थे। मुझे उपहार लेकर जाना था। बारात आने के समय। उधर रेकार्ड बजने का सिलसिला जो शुरू हुआ तो बहुत देर तक ग़मज़दा रेकार्ड बजते रहे। मैं अकेलेपन में उसके ग़म अपने दिल पर महसूस करता रहा। फ़िल्मी गानों के साथ बहते हुए मुझे लगा कि मेरी आँखें उसके आँसू रो सकती हैं। हो सकता है यह फ़िल्मी डायलॉग हो। मैं उसके प्रति बहुत हमदर्दी से सोच रहा था। तै किया, मौका पाकर उसे एकांत में ले जाऊँगा। तसल्लियाँ देने के लिए। मॉरल सपोर्ट।

उसे खोजते हुए मैंने देखा, उस घर का हर आदमी नशे में था। दोनों पापा और दोनों मम्मियाँ लड़खड़ाते हुए बेपरवाह घूम रहे थे। उन्हें फिक्र भी क्या थी। काम-धंधा निपटाने वालों की उनके यहाँ कमी नहीं थी। बीसियों लगे हुए थे। बड़ा दुरुस्त इन्तजाम था। हर चीज करीने से लगाई गई थी। मैंने किसी से सुना—अन्दर बड़े कमरे में बारात की 'बड़ी' खातिर चल रही है। मतलब ह्विस्की और ड्राइजिन। अक्सर लोग फेरे पड़ने से पहले शराब पिलाने से कतराते हैं। ऐसा मैंने सुना है। लेकिन यहाँ डर का नामो-निशान नहीं था। इधर वाले उनसे ज़्यादा तरमतर थे।

मुझे यह सोचकर खुशी हुई कि वह अन्दर पी रहा होगा। या पीकर किसी कोने में लमलोट हो गया होगा। मुझे वह प्रेजेन्टेशन का बोझ हल्का करना था। मैंने उस ओर ध्यान दिया। देना-लेना बाहर वाले कमरे में हो रहा था!

आशा के विपरीत उसे वहाँ पाकर भी मुझे ताज्जुब नहीं हुआ। एक बड़ी-सी टेबुल थी। जो आधी भर चुकी थी। उसके साथ

कुर्सी डाले वह बैठा था। कागज़-कलम से मुस्तैद। उपहार देने वालों के नाम लिख रहा था। सिनेमा के बुकिंग क्लर्क की मुद्रा में बैठा। वहाँ काफी भीड़-भाड़ थी। क्यू लगा हुआ था। वजह भी जल्दी समझ में आ गई। टेबुल के दाहिनी तरफ़ एक जानी-पहचानी लड़की खड़ी थी। अपने कद के बनिस्बत वह कुछ ज्यादा ही उभरी हुई थी। सामने से। उसके हाथ में इत्र की शीशी और रुई के फाहे थे। लोग उपहार देकर उसकी तरफ़ बढ़ते और वह उनके सीने पर इत्र मलती। हर बार एक कहकहा-सा बिखर जाता। खुशबू का या मस्ती का। मैं क्यू में लगे-लगे तमाशा देखता रहा।

मैंने देखा जितने पाये का आदमी होता उतने ही कायदे से वह उसकी कमीज पर इत्र, उँगलियाँ और फाहा मलती। ज़्यादातर लोग उसके वक्ष पर निगाहें ठहराकर साँस छोड़ रहे थे।

उस अफसरनुमा शक्ल ने काफी कीमती उपहार दिया था। टेबुल पर बैठे उस लड़के की बाछें खिल गईं। उसने उपहारदाता की शान में खीसें निपोरीं। क्यू में लगे लोगों की तरफ देखा भी। वह लड़की पकी काया और उम्र वाले मेहमान की तरफ़ इत्र लगाने के लिए बढ़ी तो उसने मुस्कराते हुए इत्र की शीशी उसके हाथ से ले ली, और बोला—'तुम सबके लगा रही हो। लाओ, हम तुम्हारे लगा दें...।' वह बड़े मज़े से उसके सीने पर जहाँ-तहाँ उँगलियाँ मसलता रहा। बार-बार इत्र की शीशी से उँगलियाँ तर करता और मलने लगता। लोग उसके इस करतब को बेहतरीन मज़ाक समझने के टोन में हँसते रहे। मैं अपने को खामो-ख्वाह टटोलने लगा—क्या मैं भी ऐसी कोई हरकत कर सकता हूँ।

नाम लिखवाते समय मेरा ध्यान उस लड़के की ओर चला गया। मैंने अपने नाम का उच्चारण किया। मगर वह मेरे पिताजी का नाम लिखने लगा। वह पिता और बेटे में कोई फ़र्क नहीं पा रहा था। उधर इत्र मले जाने की संभावना गिरती गई। मैं मजबूरन अपने सोचने को मेज़ पर बैठे उसके ग़म और मलाल की ओर ले गया। इसके अन्दर वाले

आदमी की क्या दशा होगी—मैं दार्शनिक भाव से अनुमान करने लगा। आखिर आज शवनम की शादी है !

मैंने तै किया, मैं उसके ऊपर निगाह रखूँगा। मैं उसे अपनी आँखों, टूटते हुए देखना चाहता था।

उस लड़की ने बड़े लापरवाह ढंग से मेरी कमीज़ पर इत्र छुआया। उसका ध्यान मेरे पीछे खड़े मल्होत्रा अंकल पर था। वे भी काफ़ी पके-वालों वाले बुज़ुर्ग थे। किसी समय भी कोई जमता हुआ मजाक उसके साथ कर सकते थे। शायद इसीलिए, उस लड़की को अधेड़ और गदराए हुए आदमी पसन्द थे। मैंने उसकी इस इन्टेलेक्चुअल पसन्द की दाद देनी चाही।

मैं बाहर आया तो बारात डिनर पर बैठ गई थी। आसपास हसीन किस्म का जमाव था। उसके मलाल को ताड़ने का मौका नहीं मिल पाया। मूड भी बदलता जा रहा था। 'कौन जल्दी है ?'—मैंने सोचा। बहुत समय मिलेगा।

वह और कहीं तो रहता नहीं था। उसे सिर्फ शबनम के साथ रहने वाला एक आदमी कहा जा सकता था। और शबनम बिल्कुल फिरकनी थी। उससे कुछ छूटा नहीं था। मेरे सामने-सामने उसने पोस्ट-ग्रेजुएट किया, लॉ कर लिया और आई० ए० एस० में बैठने की तैयारी कर रही थी। बैडमिन्टन और डीबेट में जिला स्तर से लेकर प्रांतीय स्तर तक उसका नाम चलता था। दूसरी ओर स्टंट और रोमांस से भरपूर फ़िल्मों की चटोरी। जुबली फ़िल्मों को चार-चार बार देखती। वह उसके साथ रहने की वजह से अक्सर हाँफता हुआ नज़र आता।

हम जब से इस मकान में आए कभी भी उसे शबनम से जुदा नहीं देख सके। उसके चिपकूपन की वजह से इन तीन सालों में कभी भी मुझे शबनम के बारे में ग़लतफहमी नहीं हो पाई। जबकि शबनम खूब लिफ्ट

देने वाली लड़की थी। बिल्कुल खुली। मैंने उसे कई बार, चोरी से और खुल्लम-खुल्ला, कई कोणों से देखा है। बैडमिन्टन कोर्ट में, उसके साथ खेलते हुए। ऊँचे स्कर्ट में। बाजू वाले दरवाजे से झाँककर। बरामदे में अस्त-व्यस्त लेटे हुए। और कई तरह से। होली पर उसके साथ जमकर हाथापाई करने का मौक़ा भी हर बार मिलता रहा है। मगर मुझे कभी कोई ग़लतफहमी नहीं हो सकी। 'रिज़र्व्ड' की स्लिप की तरह से वह टँगा जो रहता था।

उस लड़के से परिचय भी बड़े अजीब ढंग से हुआ था। वह मसाले पीसने हमारे घर आया। बड़ी मम्मी के साथ। हमारे यहाँ मसाले ग्राइंड करने की मशीन थी। माँ से मशीन दिलवाकर बड़ी मम्मी चली गईं। वह चुपचाप मसाले पीसता रहा। आखिर को मुझे ही जाना पड़ा। स्टील के बरतनों में अलग-अलग मसाले खूबसूरत लग रहे थे। वह मनोयोग से अपने काम में जुटा था। मुझे ताज्जुब हुआ—भला ये काम कोई इसके करने का है!

मैंने हँसते हुए उससे पूछा भी। वह जरा भी विचलित नहीं हुआ। बोला—'मम्मी की तबियत खराब है।' आगे भी और रूखी-सूखी बातचीत हुई। जिससे पता लगा कि वह लॉ में पढ़ता है। शबनम के साथ ही। घर सुल्तानपुर से थोड़ा आगे है। वह और शबनम साथ-साथ पढ़ाई करते हैं। इसलिए वह यहीं रहता है।

उसी दिन शाम को देखा। उनके यहाँ बिस्तर लगाए जा रहे थे। वह एक और लड़की की सहायता से मच्छरदानियाँ लगवा रहा था। कुछ अजीब-सा लगा। लेकिन बाद में, देखते-देखते मैं अभ्यस्त हो गया। मच्छरदानी लगाना और उठाना उसका रोज का काम था। उसकी दिनचर्य्या बड़ी सेट थी। शबनम एम० ए० और लॉ एक साथ कर रही थी? वह सुबह वाली एम० ए० की क्लासों के लिए भी उसे छोड़ने-लाने जाता था। शाम को तो खैर साथ था ही।

जिन दिनों सीजन होता था वह शबनम को बैडमिन्टन की प्रैक्टिस

कराता था। सामने ही उन लोगों ने कोर्ट बना रखा था। एक-आध दफे मुझे भी बुलाया गया। फिर मैं रोज़ ही पहुँचने लगा था। वजह थी शबनम और उसका खुलापन। फ़ुर्तीलेपन के साथ-साथ उसके बदन में दोहरेपन का भराव भी था। मैं अक्सर बुरी तरह हारता। बड़ा मज़ा आता था। मैं सिर्फ शॉट मारने के चक्कर में रहता था। मौका पाया और मैंने शटल दबाई। ये शॉट या तो नेट में फँसकर रह जाते थे, या शबनम के किसी नाजुक हिस्से पर पड़ जाते। वह 'आ म सॉरी' कह उठती। मैं 'सॉरी' कहते हुए भी डरता था। वह अपने को समेटकर बड़ी अदा से शटल उठाती और खेल फिर चालू हो जाता।

वह रेफरी बना हुआ हमें खिलाता रहता। मेरी बड़ी इच्छा थी कि वह कभी मेरे, शबनम के 'यहाँ-वहाँ' शटल मार देने को लेकर कुछ कहे। कोई मजाक ही कसे। परन्तु उसके चेहरे पर शिकन नहीं पड़ती थी। बुत की तरह खड़ा रहता। सिर्फ उसके मुँह से निकलता—'सरविस...!'

असल में उसकी सबसे महत्वपूर्ण भूमिका सहपाठी के रूप में ही थी। यह भी मुझे जल्द ही मालूम हो गया।

मैं नाइट शो देखकर आया था। बहुत देर तक नींद नहीं आई। बाहर टहलने लगा। उनके बरामदे में रोशनी थी। अंग्रेज़ी में दोहराई जाती पंक्तियाँ सुनाई पड़ रही थीं। मैंने देखा, वह और शबनम बरामदे के एक कोने से दूसरे कोने तक टहलते हुए कुछ याद कर रहे थे। वह पढ़ता तो पढ़ता चला जाता। फिर शबनम पढ़ती। किताब बन्द करके फिर वह दोहराने लगती। वह किताब खोले जाँचता रहता था। जहाँ कहीं वह अटक जाती, झट से सिलसिला जोड़ने वाला वाक्य पढ़ देता।

काफी समय तक ऐसे ही होता रहा। मुझे ताज्जुब हुआ वह क्यों नहीं किताब बन्द करके दोहराता है। क्या उसे सबक याद नहीं करना है! जल्दी ही समझ में आ गया कि विषय इंगलिश लिटरेचर है। 'लॉ' नहीं। वह लॉ का छात्र था। वह सब शबनम को याद करवाने के लिए हो रहा था।

गर्मियों में जब हम भी बाहर सोने लगे, तब उनकी पढ़ाई का यह तरीका विस्तृत रूप से समझने का मौका मिला। वे लोग रात को दस-साढ़े दस बजे पढ़ाई शुरू करते और सुबह चार बजे तक पढ़ते चले जाते।

एक दफ़े रात के आखिरी पहर में नींद खुली। वे दोनों उसी तरह बरामदे में घूमते हुए मश्क करते मिले। मैंने अनुमान लगाया। करीब तीन बजे होंगे। शबनम निढाल हो गई थी। उसकी आवाज़ भर्राई हुई थी। सहसा किताब उसके हाथ से छूट कर गिर गई। वह थक चुकी थी। मगर पढ़ाई रुकी नहीं। किताब उसने पकड़ ली। शबनम पढ़ते हुए घूमती रही और याद करती रही। खुली किताब लिए वह शबनम के आगे-आगे चलता रहा। वह अस्फुट स्वर में बाँचती रही थी। फिर कुर्सी पर बैठ गई। वह ज़ोर-ज़ोर से कानून की धाराएँ पढ़ने लगा। शबनम सुनती रही। बीच-बीच में उसे रोक देती और दोबारा पढ़ने को कहती।

मुझे उसकी सिंसियरटी पर खौफ हुआ। शबनम का जिस्म ढीला पड़ गया था। निढाल शबनम सिर्फ़ उसके सहारे पढ़ने की अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने का प्रयत्न कर रही थी। कभी-कभी वह उसे प्राइज़ भी देती थी! मैंने देखा वह पीछे हाथ डालकर कुछ निकालने की कोशिश कर रही है। 'क्या हो गया?'—किताब बन्द करके उसने पूछा। 'शायद कोई मच्छर घुस गया है। देखना तो ज़रा!' और वह उठ कर उसके ब्लाउज के बटन पीछे से खोलने लगा।

वह सिर्फ़ मच्छर ही निकल पाया। मेरी रुकी हुई साँस को नार्मल करवाते हुए वह फिर टेक्स्ट पढ़ने लगा था।

उसके बाद मैं शबनम से डरने लगा था। वह खिलाड़ी लड़की मालूम पड़ रही थी।

समय के साथ-साथ मेरे मन में उसकी इमेज बदलती गई थी। जैसे-जैसे मैं उसे समझता गया उसके प्रति मेरी संवेदनाएँ जागती गईं।

इसी बीच विश्वविद्यालय ने लॉ का कोर्स दो साल के बजाए तीन साल कर दिया था। उसे यह एक साल ग्रेस में मिल गया था। ये तीनों साल उसने शबनम को ही समर्पित कर दिए थे।

मैंने अनुभव किया, गर्मी की छुट्टियों में उसे ज्यादा राहत मिलती थी। भरपूर सान्निध्य प्राप्त होने के कारण।

पहली समर-वेकेशन में आखिरी इम्तहान खत्म होते ही सीधे स्टेशन पहुँचे थे। सामान वगैरह दूसरे लोगों के साथ पहुँचा होगा। मुझे इसलिए पता है कि मैं उस समय दफ्तर जाने के लिए बस की प्रतीक्षा में मोती बाग़ चौराहे पर खड़ा था। बस नहीं आ रही थी। करीब आधा घंटा ऊपर हो गया। एक पानी बेचने वाला मेरे नज़दीक खड़ा था। मैं एक गिलास पानी के लिए उसकी तरफ बढ़ा। उसी समय उन लोगों का रिक्शा ठीक वहीं आकर रुका। वह लपककर उतरा। शबनम बैठी रही। वे लोग पानी पीना चाहते थे।

'सीधे कॉलेज से आ रहे हैं।' वह बोला। मैंने देखा शबनम के हाथ में क्विक की शीशी, परचा और दो-तीन कलम थे। 'कहाँ का प्रोग्राम है?' मैंने पूछा। वह अपनी प्रकृति के विपरीत उत्साहित प्रतीत हुआ।

'अरे मत पूछिये, बहुत लम्बा प्रोग्राम है। पहले सुल्तानपुर, मेरे घर। वहाँ रहेंगे कोई हफ्ते भर। फिर देहरादून। देहरादून से मसूरी...।' वह पानी के दोनों गिलास उठाकर रिक्शे तक ले गया। दोनों ने साथ-साथ पानी पिया। मैं शिष्टाचारवश आगे बढ़के उनसे विदा लेने गया।

शबनम ने बात पकड़ी—'कहाँ जा रहे हैं आप?'

यह जानकर कि मुझे बस नहीं मिली है और मैं लेट हो रहा हूँ, उसने कहा—'हमारे साथ रिक्शे पर निकल चलिए। स्टेशन से आपको बस आसानी से मिल जाएगी। मैं इनकार नहीं कर सका। वैसे भी इस शहर में तीन आदमी रिक्शे पर चलने का खूब रिवाज है। शबनम बीच में बैठेगी—मैंने सोचा। मगर वह बीच में बैठ गया। शबनम भी बैठी ही थी। मैंने किसी तरह से अपने को उस बहुत कम जगह में ठूँसा। मेरे

दबाव से वह शबनम से और सटता जा रहा था। इस बात की मुझे काफ़ी तकलीफ़ थी। फिर भी इस पर उपकार करने की इच्छा से मैंने उस पर अपना दबाव बढ़ा दिया। उसके बदन से, रात-भर जाग कर तैयारी करने के कारण पर्त-दर-पर्त जम गए पसीने की गंध छनकर आ रही थी।

सुबह नहा भी नहीं पाया होगा बेचारा! —मैंने चेहरा दूसरी ओर करते हुए सोचा।

उस तरह बैठे हुए शबनम काफ़ी तकलीफ़ में थी। उसने रिक्शा रुकवाया। दोबारा से हम लोग बैठे। शबनम बीच में। मैं और वो दायें-बायें। रिक्शा कड़ी धूप में घिसट रहा था। स्टेशन अब ज्यादा दूर नहीं था। शबनम ने मुझे ऑबलाइज करना शुरू कर दिया। मैंने भी इस थ्रिल को ठीक से महसूस करने के लिए कोहनी मोड़कर चान्स लिया।

मुझे ऐसा लग रहा था कि दोनों तरह की बैठकों में एक बात कॉमन है। शीघ्र ही वह बात मैंने पकड़ ली। पसीने की गंध। शबनम के जिस्म से भी बिलकुल वही गंध आ रही थी। 'अब तो इन लोगों का नहाना-धोना सुलतानपुर पहुँचकर ही होगा।' मैंने सोचा।

हो सकता है यह मेरा भ्रम रहा हो कि रात-दिन के सान्निध्य ने पसीने की खुशबुओं को एक-सा कर दिया था। और मैंने इसे उसकी उपलब्धि में शुमार किया था।

उन दोनों की इसी यात्रा के बारे में काफ़ी आगे जाकर मालूम हुआ कि कौन खेत रहा।

दो-तीन दिन, सबेरे-सबेरे एक स्मार्ट नौजवान को उनके बरामदे में खड़े होकर शेव बनाते देख मैंने पूछ-ताछ की। पता चला देहरादून के किसी फौजी अफसर का लड़का है। जो बात मुझे बताई गई थी उसमें यह वाक्य बड़ा मजेदार था कि शबनम से पट गया है। इसीलिए कुछ दिन के लिए उसके साथ आया है।

वाकई वह स्मार्ट नौजवान जितने दिन रहा, खूब सैर-सपाटे और तफरीह होती रही। शबनम उसमें खूब दिलचस्पी ले रही थी परन्तु वह सुल्तानपुर वाला लड़का निर्द्वन्द्व दिखाई पड़ता था। उसे शायद विश्वास था कि मनोज (देहरादून वाला) सिर्फ चार दिन का मेहमान है। उसे तो अभी दो साल और शबनम की पढ़ाई करवानी है।

वह मच्छरदानियाँ लगाता रहा। छोटी-बड़ी मम्मियों के लिए दवा लेने डाक्टर हजारासिंह के दवाखाने जाता रहा। औरों के द्वारा किये गए मजाकों के सहारे हँसता रहा।

शबनम के घर सुबह से देर रात गए तक आने-जाने वालों का सिलसिला लगा रहता है। एकांत और सूनापन इस घर में बहुत दुर्लभ तत्व हैं। बड़ी लड़कियाँ इसी शहर में व्याही गई हैं। अमीर घरों में। वैसे भी उठना-बैठना बड़े-बड़ों में है। एक न एक कार सामने खड़ी ही रहती है। इसके अलावा असगर साहब की गाड़ी महीने में एक दिन जरूर इस घर के सामने खड़ी होती है। वे हमेशा शाम ढले आते हैं। वापसी आधीरात के बाद ही होती है।

जितने समय वे घर के अंदर होते हैं, बाहर बरामदे की बत्ती ऑफ रहती है। और हमेशा खुला रहने वाला दरवाजा बंद रहता है। बाहर कार पर मिनिस्ट्री की प्लेट अँधेरे में भी चमकती रहती है।

असगर साहब की आमद कोई मामूली बात नहीं है। वे मिनिस्ट्री के तीन-चार महकमों के खुदा हैं। शबनम के दोनों पापा उसी महकमे में हैं। उनकी हस्ती कोई खास नहीं, मगर असगर साहब के दखल से रुतबा ऊँचा है। असगर साहब तक पहुँचने का प्रोपर चैनल समझे जाते हैं। इसी से ढेर सारे लोग तरह-तरह की अभ्यर्थी मुद्राओं में इनके दरवाजे आते रहते हैं। नाक रगड़ने या मुट्ठी गरम करने को।

असगर साहब को छोड़कर बाकी सब आने-जाने वाले बरामदे में बिठाए जाते हैं। हर समय बरामदे में कहकहे पैदा होते रहते हैं। घर के

सभी लोग समवेत स्वर में 'ग्रा, हा-हा-हा ! ग्रा, हा-हा-हा !' करने के अति अभ्यासी हैं। हमेशा एक ही टोन में छूटता है। कई बार तो मैंने घंटों, दो-दो मिनट के अन्तर से कहकहे छूटते सुने हैं। लगातार।

वह हमेशा खामोश बैठा रहता था। उसे इतना ज़्यादा ग्राने-जाने वालों के साथ बैठते हुए उकताहट भी नहीं होती थी। बशर्ते शबनम मौजूद हो। नहीं तो वह कटी पतंग-सा नज़र ग्राता था।

सब उसे उस घर का ही सदस्य मानते थे। उसका खयाल भी रखा जाता था। मगर जाने क्यों मुझे ऐसा लगता था कि उसको वह नहीं मिल रहा है जो कि ऐसी सूरतों में मध्यम वर्ग के परिवारों से मिला करता है। फिर भी उस दिन मुझे मानना पड़ा। शबनम उसका खयाल रखती थी।

उस दिन का दृश्य बड़ा पैथेटिक था। वह बरामदे में अकेला रह गया था। घर में सब लोगों के रहते। वह भी अँधेरे में।

ग्रसगर साहब ग्रन्दर थे। बदस्तूर दावत चल रही होगी। उनके लिए ह्विस्की ग्राती थी। उस बहाने घर के सारे लोग ह्विस्की पर हाथ साफ कर लेते थे। नहीं तो रोजमर्रा के लिए डिफेन्स सप्लाई वाली नौ रुपये की रम बोतल से काम चलता था। मुर्गा भी ज़रूर पका होगा। शाम से ही सिल-बट्टा खटक रहा था। उसको भला ग्रसगर साहब के साथ ग्रन्दर कैसे बैठाया जा सकता था। मैंने तो उस घर की महरी को यह कहते सुना है कि ग्रसगर साहब की खातिर के समय बड़ी मम्मी को छोड़कर कोई भी, उस कमरे के ग्रन्दर नहीं होता। दोनों भाई ग्रौर छोटी मम्मी बराबर के कमरे में बैठ कर पीते रहते हैं। महरी को तो दरवाज़ा बन्द होने के पहले ही भगा दिया जाता है।

इस बार नई बात यह हुई थी कि शबनम को भी ग्रंदर कर लिया गया था। नहीं तो वह ग्रौर शबनम बरामदे में बैठे-बैठे बातें किया करते थे। इसलिए उसे बिल्कुल नहीं ग्रखरता होगा।

वह बत्ती जलाए बैठा था। इससे हर किसी सामने से गुज़रने वाले को वह, उस घर का बंद दरवाजा ग्रौर ग्रसगर साहब की चमकती कार

के पास खड़ा मुस्तैद ड्राइवर साफ दिखाई देता था। मैं कुर्सी डाले बाहर बैठा था। मुझे खुद उस वत्ती से चौंध हो रही थी। सहसा छोटे पापा अन्दर से निकले। हल्के से दरवाजा खोलकर। दबे पाँवों जाकर वत्ती का स्विच ऑफ किया और अन्दर जाकर चिटखनी चढ़ा ली। वह अँधेरे में खो गया।

थोड़ी देर बाद बाहर जाते हुए मैंने देखा, वह ईजीचेयर पर लेटा पड़ा था। शायद सो रहा हो।

करीब दो घंटे बाद मैं लौटा तो मैंने देखा—कार की मिनिस्ट्री वाली प्लेट और ड्राइवर अँधेरे में चमक रहे थे। वह भी उसी तरह से पड़ा था। कुर्सी के लम्बे हत्थों पर हाथ फैलाए। रात के दस बजे होंगे। अन्दर इतनी खामोशी थी कि वह घर वीरान मालूम दे रहा था। जब कि सब कोई अन्दर थे। बड़ी मम्मी तो थीं ही, साथ में शबनम भी।

हो सकता है सब अलग-अलग कमरों में हों—मैंने सोचा। मगर उस घर में दो ही कमरे थे।

असगर साहब गये तो उस समय ग्यारह से ऊपर रहे होंगे। गर्मी की उमस भरी रात थी। बाहर बिस्तरे पर पड़े-पड़े मैं देख रहा था। वहाँ सोने की तैय्यारियाँ होने लगी थीं। बरामदे में काफ़ी उजाला था। वह उसी तरह ईजीचेयर पर पसरा हुआ था। बड़े पापा मच्छरदानियाँ उठा-उठाकर लाते रहे मगर वह उठा नहीं।

धीरे-धीरे लोग लेटने लगे। शबनम अभी भी अन्दर थी। बड़ी मम्मी ने आवाज देकर पूछा—'शबनम ! नहाना हो गया कि नहीं। भाई ! बड़ी गर्मी लग रही है, हम भी नहाएँगे।'

अन्दर से स्लीपिंग सूट पहने हुए शबनम बाहर आई। उसका गद-राया बदन पाजामे में कसा हुआ था। आधी कमीज का भी यही हाल था। असल में यह बड़े पापा का स्लीपिंग सूट था। शबनम ने हथिया लिया था।

शबनम के आगमन के बावजूद वह वैसे ही पड़ा रहा। वह उससे

पूछताछ करने लगी—'खाना खाया कि नहीं !' वह जाने क्या फुस-फुसाया और पूर्ववत् हो गया। अपने सींकिया शरीर को कुर्सी पर डाले और हाथों को पूरी लम्बाई तक कुर्सी के बाजुओं पर फैलाए।

शबनम ने बिगड़ना शुरू किया। सब पर। पापा, मम्मी सबको खरी-खरी सुनाई। उन लोगों को अपनी भूल का अहसास हुआ। नशे में डूबते-उतराते स्वरों में दोनों पापा उसे आवाजें लगाने लगे। मगर वह उठता ही नहीं था। उसे काफ़ी मनाया-बनाया गया। आगे पता नहीं क्या हुआ। हाँ, इतना मैंने जरूर देखा था कि शबनम अपना बिस्तरा उठा कर अन्दर ले गई थी। 'आज हम लोग अन्दर ही पढ़ेंगे !' थोड़ी देर बाद वह भी अपनी जगह से गायब था।

मुझे शक हुआ। वह नाराज़ हो गया था। खाने के लिए न पूछने पर या असगर साहब की खातिर के समय शबनम को अन्दर बुलाए जाने पर। उसे फील हो गया था। मगर शबनम अपने शिकार को लौटते देखकर बड़ा दाना भी तो डाल सकती थी।

पापा लोग और मम्मियाँ बाहर ही सोते रहे थे। दरवाजा थोड़ी देर बाद ही अंदर से बंद कर लिया गया था।

इस बार क्या शबनम फिर से नहाएगी। शायद नहीं। सोचते-सोचते मुझे नींद आ गई थी।

यहाँ के ज़्यादातर रहने वाले उसी महकमे के हैं जो असगर साहब की रियाया है। इसलिए बड़े पापा को खुली छूट है। वे हर समय इसी रंग में रहते हैं, 'कल असगर साहब कह रहे थे...किसका ट्रांसफर कर दूँ ? किसकी प्रमोशन...?' लोग पीठ पीछे खूब गालियाँ देते। मगर सामने किसी की हिम्मत नहीं होती थी।

बड़े पापा हैं भी बिल्कुल निहंग। रोज शाम को देसी-विलायती कुछ-न-कुछ चढ़ाकर मोहल्ले का एक चक्कर ज़रूर लगाते हैं। उस समय जो

भी सामने पड़ता है उसे कुछ-न-कुछ सुनना ही पड़ता है। खास तौर पर औरतें। जवान औरतें तो हिलगती नहीं। बड़े पापा प्रौढ़ महिलाओं के साथ खूब मसखरी किया करते हैं। कई बार तो सबके सामने वे ऐसी हरकतें भी कर बैठे हैं कि तौबा...मगर लोग हँसकर टाल गए।

छोटे पापा देखने में बिल्कुल घुग्घू हैं। कभी कायदे से बात नहीं करते। किसी से ज़्यादा मिलते-जुलते भी नहीं। मगर उनके बारे में यह मशहूर है कि वे महरी-चमारियों के रसिया हैं। मेरे सामने-सामने उनके यहाँ एक दर्जन महरियाँ बदल चुकी हैं। हर बार जवान रखी जाती हैं। उनकी आदत है, तौलिया लपेट कर गुसलखाने में घुसेंगे और वहीं से चिल्लाकर महरी को बुलाएँगे—"बड़ा कीचड़ हो रहा है। यहाँ आकर साफ करो।"

देर तक महरी गुसलखाने की फिसलन मिटाती रहती है।

कभी-कभी कोई बड़े पापा से पूछ बैठता—शबनम की शादी कब कर रहे हैं? वे हँसकर कहते—'हमें अपनी लड़कियों के लिए वर नहीं ढूँढना है। खुद से चले आते हैं एक-से-एक अच्छे लड़के। पहली को देख लो। दूल्हा डाक्टर है। बेचारा साल-भर चक्कर लगाता रहा। दूसरी को क्लास वन का अफसर मिला है। तीसरी...देखो।'

कभी दस-पाँच के बीच बैठकर बड़े नाज से कहते—'अरे हमें क्या फिकर है। शबनम को ज़रा आई. ए. एस. कर लेने दो। भाभीजी! सुना, अभी इतवार को दिल्ली जा रही है लड़की। बैडमिन्टन का मैच है।'

उस सुल्तानपुर वाले लड़के के बारे में पास-पड़ौस के लोग यही सोचते रहे कि वह शबनम का तैयार दूल्हा है। रेडीमेड। पढ़ाई खत्म होने पर शादी कर देंगे। जेब से पाई खर्च नहीं होगी।...होगी भी कहाँ से। चील के घोंसले में माँस कहाँ बचता है। रात-दिन मेहमानों की आवभगत। शराब, मुर्गा...महरियाँ।

लेकिन देहरादून वाला लड़का, मनोज जब तीसरी दफे आया और हफ्ते भर शबनम को साथ लिए सिनेमा, पार्क वगैरह घूमता रहा तो लोगों

के कानखड़े हुए। वह फौजी चाल-ढाल में ढला लड़का था। कहीं जाता तो मुड़-मुड़कर बरामदे में खड़ी शबनम की ओर फ्लाइंग-किस फेंकता जाता।

उन दिनों सुल्तानपुर वाले लड़के का रंग उड़ा-उड़ा रहता था। मुझे उम्मीद हुई कि वह कन्नी काट लेगा या फिर लड़ जाएगा। ताव में साफ-साफ बात कर लेगा। अगर वह आदमी के अलावा कुछ था। मनोज और शबनम कहीं जाने लगते तो पीछे-पीछे हो लेता। दुम हिलाते कुत्ते की तरह। उसे रोका भी नहीं जा सकता था। आखिर उसी ने तो उन्हें मिलवाया था। समरवेकेशन वाली यात्रा में। इसलिए वे लोग उससे आँख बचाकर जाने लगे थे। एक बार चौराहे पर पान खाते हुए मैंने उनका तरीका देखा। शबनम पहले से पहुँचकर इंतजार कर रही थी। दूर से लम्बे डग भरता मनोज उस ओर बढ़ रहा था।

इत्तफाक से मुझे तीनों को साथ देखने का मौका मिला।

वे निशात टाकीज के सामने चाट खा रहे थे। मुझे इस दृश्य को देखने में बड़ा लुत्फ आया। अपने कपड़ों को बचाते हुए, थोड़ा आगे झुककर वे चाट के दोनों के साथ मशगूल थे। मनोज से मेरी पहचान हो चुकी थी। उसने देखते ही मुझे पुकार लिया।

पूछा—'भाई साहब! क्या खाइयेगा?' मैंने बहुत इनकार किया मगर वह नहीं माना। एक पत्ता आलू की टिकिया और गोलगप्पे गले उतारने ही पड़े। शबनम इतनी व्यस्त थी कि मुँह से कुछ बोल नहीं पा रही थी। उसने हाथ से ही इशारा किया—और लीजिए! यह मेरे बस का नहीं था। इतने में ही मुँह खूब चरपरा हो गया था।

हाथ पोंछते हुए पता लगा कि उन लोगों के पास दो टिकट थे। तीसरा आदमी पीछा करते हुए बाद में पहुँचा था। वह वापस जाने को भी तैयार नहीं था। हाउस फुल की तख्ती चढ़ गई थी। हम टिकट की

तलाश में निकले।

ब्लैक में दो टिकट खरीदे गए। मनोज बोला—'लो महेश, भैया हमने आपके लिए साथी खोज दिया। अब आपको अकेले नहीं बैठना पड़ेगा।'

उसका मतलब था अब फूटो। तुम्हारा सीट नम्बर अलग, हमारा अलग। खामोख्वाह कबाब में हड्डी बने जा रहे हो।

वह भी एक ही था। कहने लगा—'अरे, आप घबराते क्यों हैं। अन्दर तो चलिए। सब ठीक हो जाएगा। सीटें एडजस्ट कर लेंगे।'

मुझे उस पर बेहद खीझ हो आई। मनोज तो खैर बोर हुआ ही। अलबत्ता शबनम अपनी पोजीशन साफ करते हुए बोली—'हाँ-हाँ। महेश भैया, सीट बराबर में मिल जाएँ तो कितना अच्छा हो। चारों साथ बैठें।''

मनोज बोला—'भई! अपन तो इस सीट बदलने के झमेले में पड़ेंगे नहीं। यहाँ तो पिक्चर से ज़्यादा मज़ा न्यूजरील देखने में आता है। इस चक्कर में कम-से-कम दो रीलें तो निकल ही जाएँगी।'

अन्दर उसने मिन्नत-खुशामद करके सीटें एडजस्ट करवा लीं। इसमें समय लगा। वह इस सीट से उस सीट तक कई बार गया और आया। खड़े होकर बातें करता तो पीछे वाले टोकने लगते। वह उनके और पर्दे के बीच आ जाता था। जैसे-तैसे वह जोड़ा उठकर हमारे नम्बरों पर आ गया और हम वहाँ जाकर बैठे। वहाँ शबनम एकदम किनारे वाली सीट पर बैठी थी। उसके बाद मनोज, फिर हम लोग। थोड़ी देर खामोश बैठने के बाद वह धीरे से उठ खड़ा हुआ। शबनम की सीट तक गया। मेरा ध्यान उस ओर गया। वह शबनम से फुसफुसाते हुए कह रहा था—'यहाँ मैं बैठता हूँ। तुम बीच में आ जाओ।'

शबनम ने अपने से आगे वाले से कहा—'खिसको!' और उठ गई। वह उसके उठते ही उस सीट पर बैठ गया है। शबनम खड़ी थी और मनोज मानो सुन ही नहीं रहा था। उतने में पीछे से कोई नाराज़ होकर बोला—

'ओ मजनूँ की औलाद ! बैठ जाओ। पिक्चर देखने दो।' शबनम ने मनोज से कहा—'हटो न !' मनोज ने उसका हाथ पकड़कर उसे खाली सीट पर बिठा दिया। मेरे और मनोज के बीच वाली सीट पर। जो उसने खाली की थी। शबनम के बगल में बैठने के लिए।

मुझे लगा वह बुरी तरह कट गया होगा। उसके बाद सन्नाटा बरकरार रहा। उसने फिर कोई कोशिश नहीं की।

इन्टरवल में मनोज और शबनम जमकर बैठे रहे। उसने चाय के लिए बाहर चलने पर ज़ोर दिया। परन्तु उन्होंने टाल दिया। अगर एक बार को सब उठ जाते तो वह फिर से शबनम को बीच में लाने का प्रयत्न करता।

मनोज लौट गया था। फिर से वही स्थिति लौट आई। रात-भर बरामदे में घूमते हुए पढ़ना। मच्छरदानियाँ, पिक्चर और कभी-कभी असगर साहब।

असल में शबनम की शादी होली पर तै हो गई थी। इन लोगों ने किसी पर ज़ाहिर नहीं किया था। परन्तु आसार कुछ ऐसे ही दिखाई दिये थे। होली पर मनोज यहीं था। सब दमादों को होली खेलने के बाद दो-दो रुपये मिले, वैसे उसे भी मिले थे। इसके अलावा उसने शबनम के साथ होली खेलते हुए, दामादों द्वारा स्थापित सभी कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये थे।

इनके यहाँ होली बड़ी ज़ोरदार होती है। तीन दिन पहले से रंग खेलना शुरू हो जाता है। वह भी रात को। उन दिनों दामाद और बेटियाँ यहीं आ बसते हैं। समधी भी।

शाम होते-होते सब बरामदे में जमा हो जाते हैं। सबकी यूनीफार्म एक जैसी होती है। सफेद कुर्ता-पाजामा। और नई खादी की टोपियाँ। खूब ठहाकेबाज़ी होती है। हर तरह का मज़ाक किया-करवाया जाता है।

सब साथ बैठकर पीते हैं। बड़ी-छोटी मम्मियाँ सबके लिए गिलास बना-बनाकर देती हैं। समधियों को पिलाते समय बहुत नोच-नाच करती हैं। वे भी इन्हें गोद में बिठाकर मूँछें खिचवाते हैं। बड़े समधी तो एक-दम बेहया हैं। छोटी मम्मी को गोद में बिठाकर बहुत उछलते हैं और चिल्लाते हैं—'ये तो मेरी हो गई ! ये तो मेरी हो गई !!'

बारी-बारी से हरेक को फर्श पर बिठालकर रंग डाला जाता है। बाल्टी भर के। ना-नुकुर की तो और शामत आती है।

रंग डलवाते समय कोई चुपचाप नहीं बैठता। खूब धींगा-मुश्ती होती है। पकड़-धकड़ और रगड़ा-रगड़ी। दामाद लोग सालियों को गोद में बिठाकर रंग डलवाते हैं। चोली फाड़ने की रस्म अदा होती है।

यह रस्म मैंने और कहीं नहीं सुनी। हर साल होली पर घर के दामाद लड़कियों की चोली फाड़ते हैं। रस्म के तौर पर। शबनम इस परम्परा की शिकार होती है। होली के तीन-चार दिनों में उसके आठ-दस ब्लाउज़ बेरहमी से फाड़ दिये जाते हैं।

मनोज के आने से होली का रंग और चढ़ गया। उसने शबनम को जी भर के घिसा और लोगों ने उसको। होली के दिन हुआ फाइनल। उस दिन ही लेखा-जोखा होता है। किसने कितने गोल किये। खुलेआम मध्यवर्ग की घिसी-पिटी सस्कृति के परखचे उड़ा दिये जाते हैं।

इस दफ़े भी महेश घुन्ना बना बैठा रहा। बैठता दामादों की कतार में था। मगर गोद बिठाना उसके बूते से बाहर की बात थी। दोपहर तक इस कदर हंगामा रहा कि मेरी वहाँ जाने की हिम्मत ही नहीं हुई।

जब मैं गया तो कुछ ठंडापन था। घर के सब लोग बरामदे में बैठे थे। मुझे भी एक मूढ़े पर बिठाया गया। बड़ी मम्मी बड़ी मुश्किल से उठीं और एक हल्का गिलास बना कर लाईं। शबनम एक तश्तरी में कुछ खाने को ले आई। पापा लोग बदहवास से पड़े थे। मैं चुपचाप बैठा टूँगता रहा। सबसे ज़्यादा मनोज का हुलिया बैरंग था। वह रगड़-रगड़ कर चेहरा साफ करने की कोशिश कर रहा था।

महेश नीचे फर्श पर बैठा था। एकदम धुत्त लग रहा था। शबनम के आ बैठने पर चर्चा छिड़ी कि किस-किस ने कैसी होली खेली। शबनम ने चहकते हुए कुछ स्मार्ट लोगों का ज़िक्र किया और फिर उसने और बड़ी मम्मी ने एक राय से घोषित किया—मनोज टॉप पर रहा है। खेलने के मामले में। पापा भी पड़े-पड़े हुंकारा भरते रहे। एक छोटी लड़की बोली—'हमारे महेश भैया को नहीं आती होली खेलनी। बेचारे।' सबने एक ऊँचा क़हक़हा बुलन्द किया। जो काफ़ी देर तक चलता रहा।

सहसा महेश झटके से उठ खड़ा हुआ। उसका रंगा हुआ चेहरा इस कदर स्याह था कि चेहरे को देखकर कुछ अन्दाज नहीं हुआ। परन्तु मुझे लगा कि उसकी आँखें चकमक की तरह चिंगारियाँ छोड़ रही हैं। उसकी पुतलियों पर वही आदिम चमक थी, जो क्रूरता की निशानी होती है। शायद पुरुषार्थ की पहचान भी।

वह चुनौती देने की मुद्रा में बोला, 'मैंने तरीके से होली कहाँ खेली है। अभी तो खेलनी है मुझे होली!' और बाज की तरह झपट कर उसने शबनम को पीछे से दबोच लिया। 'तुम्हारे मुखड़े का रंग अभी भी बहुत उजला है। लो, थोड़ा-सा रंग हमारा ले लो।' उसको बाहु-पाश में बाँधे हुए वह उसके गालों पर गाल रगड़ता रहा। सब हँसने-खिलखिलाने लगे। सबसे ज़्यादा तो शबनम। मैंने देखा वाकई महेश के गालों पर पुता काजल शबनम के चेहरे पर उतर रहा था।

उसने शबनम को हाथों पर उठा लिया और बाथरूम में ले गया। जी भर के भिगोने की नीयत से। बरामदे में मानो ठहाकों का जलजला आ गया था। मैं जहाँ बैठा था वहाँ से बाथरूम सामने पड़ता था। वह बलपूर्वक शबनम को नल के नीचे बिठाए था। वह छटपटा रही थी।

आते-आते उसने चर्र से उसका ब्लाउज फाड़ कर कंधों पर लटका दिया। लोग हँसते रहे। और कर भी क्या सकते हैं—मैने सोचा।

शबनम को भी जोश चढ़ा। उसने बाथरूम में रखी नील की डिबिया

उठाई और लगी उसके बदन पर पोतने। पर लगाती तो कहाँ लगाती। वह हर ओर से रंगा-पुता था। उसने ज़ोर लगाकर उसके हाथ से डिबिया छीन ली और खींचकर बाहर ले आया। ठीक मनोज के सामने।

शबनम की हालत खस्ता थी मगर हँसे जा रही थी। उसने लटकते हुए ब्लाउज को उठाकर उसकी पीठ पर जो नील पोतना शुरू किया तो फिर उसे नीली करके ही छोड़ा।

मुझे यह सब अपनी आँखों देखकर ख़ुशी हुई थी। वह ख़ूँखार हो सकता था। उस समय मनोज का चेहरा बुझ गया था। वह हँसा भी नहीं। चुपचाप तौलिये से चेहरा रगड़कर रंग छुड़ाता रहा था।

जुलाई के पहले हफ्ते में बहुत कुछ हो गया। शबनम ने लॉ का इम्तहान पास कर लिया। महेश रह गया। फिर भी वह यहीं रह रहा था।

सुना बड़ी मम्मी की तबियत खराब है। दो-तीन दिन सुनता रहा। आखिर मिजाजपुर्सी के लिए जाना पड़ा।

घर के बाकी लोग कहीं गये थे। वह अकेला बड़ी मम्मी के सिर-हाने बैठा था। सिर दबा रहा था। मैं गया और चुपचाप बैठा रहा। वे कष्टपूर्वक मुझे देखकर मुस्कुराईं। अब भी इनमें कितना असर बाकी है। मैंने सोचा। उनकी जवानी के कई किस्से मैंने सुने थे। असगर साहब का इस घर में तभी से आना-जाना है।

महेश उनका माथा सहलाए जा रहा था। यंत्रचालित सा।

उन्हें चैन पड़ता नज़र नहीं आता था। उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। शायद दर्द की अधिकता के कारण। चेहरा खिंच आया। सहसा महेश की नज़र उधर पड़ी। वह उनके चेहरे पर झुककर, सहलाने वाले स्वर में पूछने लगा—'मम्मी! मम्मी क्या हुआ। बहुत दुख रहा है क्या!'

बड़ी मम्मी ने उसका हाथ अपने दोनों हाथों से पकड़कर अपने

माथे पर दबा लिया।

कुछ देर तक यूँ ही बैठा रहा। मिज़ाजपुर्सी के दो शब्द भी न कह सका। बैठे-बैठे कुछ गिल्टी फीलिंग हुई। लगा कि यहाँ तनहाई की ज़रूरत है। मम्मी उसी तरह ग्राँखें मूँदे पड़ी रहीं। मैं इशारे से ग्राराम देने की हिदायत देकर वाहर निकल ग्राया।

ग्राते-ग्राते मुझे लगा था मम्मी ने करवट ले ली है। उसकी तरफ। कुछ शक भी हुग्रा। वो जो पलंग पर बीमार लेटी है, कहीं शब-नम तो नहीं है। काफी मिलता-जुलता चेहरा था।...ग्रौर देह की ऊष्मा से कमरा महक रहा था।

शबनम की शादी तक बड़ी मम्मी की तबियत ठीक नहीं हुई। महेश सुल्तानपुर नहीं गया। दिन-रात उनके पास बैठा रहता। या दवा के लिए ग्राते-जाते मिलता। छोटी मम्मी शादी की तैयारियों में व्यस्त थीं। बहुत काम था। उस जवान महरी को फिर से रख लिया गया था। जिसको छोटे पापा से बहुत-सी शिकायतें थीं। इसी वजह से उसको निकाला गया था।

शबनम ने घूमना-फिरना वन्द कर दिया था। उसे चिट्ठियाँ लिखने का रोग लग गया था। ग्रक्सर वह बरामदे में बैठकर खत लिखा करती। जाने किसको।

एक दिन शादी का कार्ड छपवाने के लिए, बड़े पापा ने मुझे बुला भेजा। कहने लगे, बहुत काम है। महेश मम्मी की देखभाल में लगा है। इसीलिए तुम्हें बुलवाया है।

महेश के पथरीले चेहरे को देखकर मन बहुत पसीजता। प्रेस में कार्ड का प्रूफ जाँचते समय मन में ग्राया—क्या यहाँ मनोज के बजाय महेश नहीं किया जा सकता। हालाँकि मैं कर सकता था। पेंसिल हाथ में थी। जो भी करेक्शन करता, प्रेस वाला छाप देता। मगर विधि के विधान को मेरी पेंसिल नहीं बदल सकती थी।

मेहमान ग्राने लगे थे। उनका घर बुरी तरह भर गया था। ऐसे में

एक शाम असगर साहब की गाड़ी आकर खड़ी हो गई। सब लोग झट से सिनेमा देखने के लिए निकल गए। और हमेशा की तरह बरानदे की बत्ती बुझा दी गई।

सिनेमा जाते हुए लोगों में महेश था। शबनम नहीं थी। आश्चर्य ! शबनम, और पिक्चर का प्रोग्राम मिस कर दिया जाए।

दूसरे दिन शाम को। आस-पास के सब लोग उनके यहाँ बैठे थे। एक तो शबनम की शादी वाली बात थी, दूसरे बड़े पापा को जो रिटायर होने वाले थे, एक्सटेंशन मिल गया था। उसी दिन आर्डर्स हुए थे।

इधर-उधर की बातें चलती रहीं। शर्मा जी का कुछ काम था। असगर साहब से। वे इस चक्कर में थे कि पिछली शाम को असगर साहब से उस बारे में बात हुई या नहीं। उधर बड़े पापा अपने ही रंग में थे। बार-बार चर्चा से विमुख होकर टिमटिमाती आँखों से शून्य में अपने शानदार भविष्य की झाँकी देखने लगते।

आखिर को शर्मा जी ने साफ-साफ पूछ ही लिया— रात तो साहब आये थे। कुछ कह रहे थे ?

बड़े पापा नकली उदासी ओढ़कर बोले—'मत पूछो। साहब तो बड़े दुखी थे। कह रहे थे, मदन ! तुमने सब लड़कियों को घर से निकाल दिया। बहुत बुरा किया। घर सूना हो जाएगा।...बेचारे दो घड़ी आकर बच्चों के बीच बैठ लेते थे। जी बहल जाता था।'

सब ने ऊपरी तौर पर हाँ में हाँ मिलाई—सही बात है। घर तो एक-दम सूना हो जाएगा।

बड़े पापा जोशीले स्वर में बोले—'सुना, मैंने भी साहब को कह दिया है मेरी लड़कियाँ सब आस-ही-पास हैं। आप आएंगे तो एक-न-एक यहाँ मिलेगी ही। घर को कभी सूना नहीं रहने दूंगा।'

लौटते हुए कोई कह रहा था—देखा ! बुढ़ऊ कितना पाजी है।

इस बीच महेश मुझे बेहद गम्भीर दिखाई दिया था। मैं उसके बारे में काफी सोचने लगा था। बाहर वालों में मैं ही ऐसा था जो उसकी व्यथा की गहराई समझ सकता था। परन्तु शादी वाली रात को उसके व्यवहार ने मुझे शॉक पहुँचाया। वह इतना अछूता लगने का प्रयास कर रहा था, जैसे उसका शबनम से कोई वास्ता न रहा हो। कोई ऐसा सिलसिला ही न रहा हो, जिसकी परिणति विवाह में होती हो।

अगर वह ऐसा जता रहा था तो मैं उसकी इस हरकत के विरुद्ध एक गवाह था। चश्मदीद गवाह!...किसी भी स्तर पर अपना बयान देने को उत्सुक।

उस रात। डिनर के बाद ज्यादा देर नहीं लगी। बारह बजते-बजते शबनम कार में बैठ कर चली गई।

कोई रोना-धोना नहीं। फार्मेलिटी नहीं। महेश शबनम को कार तक लाया।। बेहद जमता हुआ स्मार्ट दूल्हा वहाँ खड़ा था। सब मन ही मन शबनम के भाग्य की सराहना कर रहे थे। मनोज और शबनम पिछली सीट पर बैठे। छोटी मम्मी तश्तरी में मिठाई और चाँदी के गिलास में शरबत लिए खड़ी थीं। लड़की प्यासी न चली जाए। कहीं रास्ते में मारे लाज के पानी न माँग सके।

शबनम ने हम सबको हाथ जोड़े। बड़े पापा बुरी तरह धुत्त थे। लाल-लाल आँखें घुमाते हुए चिल्लाये—'सब लोग यहाँ आ जाओ। देखो, मेरी बेटी जा रही है।...देखो बेटा महेश! शबनम जा रही है। साहब कहते हैं घर सूना हो जाएगा...।'

लोग उन्हें सम्हालने लगे। वे बिगड़ गये—'तुम लोग समझते हो मैं रोऊँगा! कभी नहीं...मेरी बेटी...।' आखिर को उन्हें वहाँ से हटा लिया गया।

जाते समय शबनम ने महेश को पास बुलाया। उसका कंठ बड़े पापा वाला दृश्य देखकर रुआंसा हो आया था। उसने कहा—'महेश! हम जल्दी ही आएँगे। आने की तारीख लिख देंगे। तुम आकर ले जाना।...मम्मी-

पापा का खयाल रखना।...हिच् !'

मैं महेश, यानी सुल्तानपुर वाले लड़के के बिल्कुल नज़दीक खड़ा था। उसकी आँखों में आँसू तो क्या नमी भी नहीं थी ! कुछ-कुछ चमक थी वैसी, जैसी होली के दिन उसकी आँखों में देखी गई थी।

कार चली गई। बड़ी मम्मी ने उससे कहा—'महेश ! हमें सहारा देकर ले चलो।' वह जैसे कहीं से लौट आया। मम्मी का हाथ अपने कन्धे पर रखकर उन्हें बरामदे की ओर ले जाने लगा।

भीड़ छँटने लगी थी। मैं हतप्रभ-सा खड़ा था।

महेश का सहारा लिए बड़ी मम्मी बड़े नाज़ से खरामा-खरामा लौट रही थीं। बड़े पापा को लोग पहले ही अन्दर ले गए थे। छोटी मम्मी के हाथ में खाली तश्तरी थी। चाँदी का गिलास शबनम को दे दिया गया था।

छोटे पापा भी गायब थे। कहीं काम में लगे होंगे।...हाथ-ठेला गाड़ी पर क्राकरी और किराए का सामान लद रहा था।

धीरे-धीरे सब लौटे जा रहे थे।...कल परसों आए हुए मेहमान भी चले जाएँगे। महेश का लौटना मुश्किल दिख रहा था।

मुझे वहाँ खड़े रहना बेमानी लगा।

वेटिंग-रूम

साढ़े दस बजे पाँव फिर जमीन पर टिके। बीच वाला एक और जंक्शन आ गया था। गंतव्य स्थल के लिए गाड़ी सुबह तीन बजे मिलनी थी। तब तक का वक्त यहीं, इस स्टेशन पर काटना था। सब उतर गए। मेरी हालत यह थी कि पाँव उठता ही न था। बाहर गज़ब का जाड़ा था—ठिठुरा देता। सोचा, डिब्बे से उतरूँ ही नहीं। इसी में सोया रहूँ। जो भी हो, डिब्बा खिड़कियाँ बन्द होने के कारण काफी गर्म था। आखिरी स्टेशन था—गाड़ी को यहीं दोबारा चलने से पहले, सुबह तक खड़े रहना था। मैंने पाँव फैला लिये। मुश्किल से दो मिनट न बीते होंगे कि रेलवे-सफाई-दल का एक नमक हलाल बाल्टी और झाड़ू लेकर संडास में धँस गया। एक तो उसने घुसने में ही काफी शोर किया, फिर अन्दर जोरों से ब्रुश वाली झाड़ू चलाने लगा और गिरा-गिराकर पानी डालने लगा। संडास के अधखुले दरवाजे से दुर्गन्ध का एक सर्द भभका छूटकर डिब्बे में फैल गया। ब्रुश चलने की आवाज तो बर्दाश्त कर गया था परन्तु इस गंधाते में टिकना बस की बात नहीं जान पड़ी। मुँह का स्वाद जाने कैसा हो आया था। पिटा हुआ-सा सूटकेस उठाकर बाहर आया।

मुश्किल यह थी कि सूटकेस को छोड़कर मेरे पास कोई और सामान था ही नहीं। सूटकेस में कायदे से तहाया हुआ एक सूट था, तौलिया-कमीजें थीं। कम-से कम एक कम्बल तो होना ही चाहिए था। ऐसे मौसम

में बिना बिस्तरे-कम्बल के सफर करना मूर्खता थी। परन्तु घर के एक-मात्र भद्दे कम्बल को लाने की इच्छा नहीं हुई थी। और फिर मैं तो उम्मीदों से भरा, घर से निकला था। लग रहा था, बनने के दिन आ गए। सूट मेरा नया था—बाकी चीज़ें भी दुरुस्त थीं। ऐसे में होल्डाल के बिना, रस्से में बाँधकर रजाई-तकिया लाना अच्छा नहीं लगा। दो-तीन जगह माँगने भी गया, परन्तु होल्डाल सब जा चुके थे। इस सम्बन्ध में ज्यादा झक लड़ाना उचित न समझकर, मैं बिना बिस्तर जाने की आपत्तियों को गाड़ी चलने तक अनसुना करता गया। वह सुबह का वक्त था—जेबें सिगरेटों से भरी थीं। इस बारे में सोचने की अब तक जरूरत ही महसूस नहीं हुई थी। परन्तु शाम से ही निरन्तर हवा की तीरगी और चरपराहट बढ़ती जा रही थी।

बाहर लगभग सूने प्लेटफार्म पर कुछ देर यूँ ही खड़ा रहा। प्रतीत हुआ कि किसी बर्फ की सिल्ली पर खड़ा हूँ। पास में ही एक टी-स्टाल था। स्टाल वाला, कटघरे के अन्दर एक बेंच पर बिस्तर लगा रहा था! अँगीठी अभी दहक रही थी—तसल्ली हुई। एक मोटा पहाड़ी लड़का बैठा ताप रहा था। मैं अपने आप उस ओर बढ़ गया। अँगीठी के सान्निध्य की इच्छा से—बहाना चाय का था। पहाड़ी बरतन माँजकर बैठा था, उसके गीले, कोहनियों तक चमकते हाथ बता रहे थे। मैंने उसे चाय बनाने के लिए कहा। परन्तु वह वैसे ही बैठा रहा। स्टाल का मालिक रजाई ओढ़े बैठा था। उसका ध्यान मेरे ऊपर ही था, उसने पहाड़ी को एक कामकाजी गाली दी और फौरन चाय बनाने का हुक्म दिया। मजबूरन वह उठा और चाय की केटली चढ़ाकर फिर बैठा गया। अच्छा, मोटा-ताजा लौंडा था। बदन पर चिकनाहट थी। जाँघिया पहने था। अँगीठी की आँच में उसकी चिकनी जाँघें और घुटने चमक रहे थे। मैं अँगीठी के नज़दीक हो गया।

उसने चाय तैयार की। बिल्कुल पानी-सी चाय। किसी तरह घूंट-घूंटकर मुँह का स्वाद बिगाड़ता रहा। हिम्मत अभी से ही जवाब देने

लगी थी। जी कर रहा था, स्टाल वाले की रजाई खींच लूँ और ओढ़कर नीचे ही, ज़मीन पर सो जाऊँ। सिगरेट सुलगाकर मन-ही-मन अपनी कमजोरी पर मैं हँसा। आने वाला दिन एक शानदार दिन हो सकता था! और मैं छोटी-छोटी बातों को लेकर ही परेशान था।

मेरे लिए अब यही वाजिब था कि बाकी समय वेटिंग-रूम में काटूँ। मेरे पास सेकेंड क्लास का टिकट था—मैं अपनी जेब से सफर नहीं कर रहा था। चारों ओर से बन्द वेटिंग-रूम में, बेंत के बुने तख्त या दीवान पर तौलिये को तकिया बनाए ढ़ाई बजे तक लेटा रहूँगा—मैं इस ख़याल से निश्चिंत हो उठा। आरामसे अँगीठी के पास खड़े होकर सिगरेट पीता रहा। यहाँ तक कि पहाड़ी भी सोने के लिए अपनी टाट-पट्टी बिछाने लगा था! मेरा शक गलत निकला—पहाड़ी लौंडा स्टाल वाले के साथ रजाई के अन्दर नहीं सोता था। उसे तो एक टाट ओढ़कर नीचे सोना था। मैंने सूटकेस उठाया और ओवर-ब्रिज की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। मुख्य प्लेटफार्म उस पार था।

वहाँ एक ही वेटिंग रूम था—फर्स्ट और सेकेंड दोनों के लिए। कायदे से बाहर एक अटेंडेंट को होना चाहिए था, स्टूल पर औंघते हुए। परंतु वहाँ कोई नहीं था। स्टूल भी नहीं था। जालीदार दरवाजा तो भिड़ा हुआ था ही, अंदर दूसरा दरवाजा भी भिड़ा हुआ था। मुझे स्थिति सहज नहीं लगी। स्प्रिंग डोर खोलकर अंदर वाले दरवाजे को दबाकर खोलने की कोशिश की, परन्तु वह अंदर से बोल्ट किया गया था? दरवाजा थपथपाने की इच्छा नहीं हुई। जाने अंदर कौन हो। शायद कोई गहरी नींद में सो रहा हो। मैंने मुड़ कर पीछे देखा—बर्फ की गलती सिल्ली पर मेरा सूटकेस तिरछा रखा था।

मैं स्टेशन मास्टर के आफिस तक गया। उससे अटेंडेंट न होने के बारे में शिकायत की। यह भी बताया कि अंदर कोई बोल्ट चढ़ाकर

सोया है। उस भले आदमी ने पहले तो लिफ़्ट ही नहीं मारी, फिर बेरुखी से बताया अटेंडेंट यहीं होगा। उसने यह भी बताया कि रेलवे कंट्रेक्टर के एक इंजीनियर वेटिंगरूम में ठहरे हैं। दरवाजा उन्हीं ने अंदर से बंद किया होगा। मैंने उनसे अनुरोध किया—किसी को मेरे साथ भेजकर दरवाजा खुलवा दें। स्टेशन मास्टर मेरी ओर देखने लगा। शायद वह मेरी सामान-हीनता को भाँप रहा था। फिर उसने मुझसे पूछा, 'क्या आपके पास सेकेंड क्लास टिकट है?' मैं तैश में आ गया। टिकट निकाल कर उसे दिखाया और कहा, 'आप मेरे साथ आदमी भेजिए और वेटिंग-रूम खुलवाइये।' आखिर एक नीली वर्दी वाला मेरे साथ चला।

दरवाजा आसानी से नहीं खुला। 'साब, साब!' करता रहा मेरे साथ का आदमी। 'क्या है?'—करके एक साहब ने इस तरह रास्ता रोका जैसे यह वेटिंगरूम न होकर उनका घर था। वे स्लीपिंग-सूट पहने थे। जाहिर था कि सोते से उठकर आए थे। खैर, जैसे-तैसे मैंने अपने-आपको अंदर किया। वे लाख उनींदे थे परंतु उड़ती नज़र डालकर उन्होंने देख लिया कि मेरे पास बिस्तरनहीं था। मुझे लगा अब ये चुपचाप जाकर सो जाएंगे, परन्तु वे बिस्तरे की ओर जाते-जाते बाथरूम की तरफ चले गए। मैंने महसूस किया—उनके बाथरूम जाने के बाद भी, मेरे अलावा कोई और उस कमरे में बचता था। वह सोयी हुई एक आकृति थी, जो रजाई के उभरेपन से जाहिर हो रही थी।

दो तखत तो उन्हीं के बिस्तरों से अँटे थे। शेष फर्नीचर में कुछ पुराने ढंग की ईज़ीचेयर्स थीं और एक गोल मेज थी। मैंने मेज पर सूटकेस टिकाया और एक ईज़ीचेयर खींचकर बैठ गया। मेरी नज़र वहीं थी। रजाई एक बार को कसमसाई और एक जवान औरत नीचे उभर आई। वह जाग ही रही होगी—उसने भी बाथरूम की तरफ का रास्ता लिया।

वह भरपूर निगाह डाले जाने लायक औरत थी। खास अन्दाज में चप्पलें तलाश रही थी। मानो मेरी ओर देखना उसके लिए ज़रूरी न हो। फिर भी बाथरूम वाली गली में जाते-जाते उसने पलकें उठाकर

देख ही लिया। वह काफी खूबसूरत लगी। अपने जिस्म को साथ लेकर जा रही थी। जैसे कोई महत्त्वपूर्ण 'आपरेशन' अभी हुआ हो। जिसमें उसका जिस्म खूब शामिल रहा हो। साहब तब तक लौट आए। हिक़ारत भरी नज़र से एक बार मुझे देखा फिर रजाई में घुस गए। कुछ देर उनका मुँह बाहर रहा। आँखें बन्द रहीं। फिर मिचमिचाए—जैसे बत्ती उन्हें आँखों में लग रही हो। आखिर मुँह भी रजाई के अन्दर कर लिया। मैंने छुटकारे की साँस ली।

सिल्क की सिलवटों भरी साड़ी सम्हालती वह भी आ गई। मुझे लगा कि वह जान-बूझकर, दिखा-दिखाकर साड़ी ठीक कर रही थी। मेरे वहाँ आने से पहले की सुखद स्थिति को दर्शाने के लिए। ताकि मैं अपने-आपको अपराधी मानूँ। और मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि कब वह रजाई में घुसे। मुझे अपने-आपको एडजस्ट करना था। कम-से-कम तीन घन्टे के लिए। उसने सोने में समय लिया। वह सभ्य थी। उसने एक कम्बल निकाला। मेरे सामने एक ही रजाई में सोना अच्छा नहीं लगा होगा। एक तरफ वह सीधी लेट गई। कम्बल ओढ़कर। परन्तु चेहरा बाहर ही रखा। बत्ती उसे नहीं लग रही थी।

मैं कुर्सी पर अकड़ा पड़ा था। सर्दी मुझे खाये जा रही थी। हथेलियाँ ठंडी होकर बेजान-सी हो गई थीं। किसी तरह सिगरेट निकाली। कोट और स्वेटर के बावजूद छाती की जकड़न बढ़ती जा रही थी। कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। पस्त इस कदर से हो गया था कि सूटकेस खोलकर, तौलिया या कोई पत्रिका निकालने को भी उठ न सका। साढ़े ग्यारह बजे थे। रीढ़ की हड्डी न सनसनाती तो मैं परवाह नहीं करता। मेरा स्टेमिना बहुत था। परन्तु यहाँ की हालत ही अजीब थी। जिस्म को बाहरी गर्माहट की इतनी ज़रूरत पड़ती है—अगर यह जानता तो रस्सी में ही बाँधकर रजाई ले आता। कितनी सुखकर स्थिति होती। दो लम्बी कुर्सियों को आमने-सामने से जोड़कर पड़ा रहता।

वे दोनों अपने-अपने ढंग से सो रहे थे। रजाई में लिपटा मर्द शायद

सचमुच सो गया था। अब फुरसत थी। मैंने उसकी शक्ल याद करने की कोशिश की। वह झड़े बालों वाला एक घिसा चेहरा था। ऐसे चेहरे वाले जल्दी ही थक जाते हैं। दिनचर्या उसने निपटा ली थी। चूर-चूर होकर सो रहा था। बेचारा। परन्तु कम्बल में वह थोड़ा हिलती थी। या मेरा भ्रम था। वह करवट से, जल्द ही आ गई। अब बीच वाला हिस्सा काफी उठ गया था। इसका मतलब यह था कि वह काफी भरे हुए जिस्म की औरत थी। कम्बल कैसा भी हो रजाई से पतला होता है। उसके करवट लेटने से वक्राकार बन गया था। मैं उसकी पीठ वाले हिस्से की तरफ था। उसका मर्द तो सर के ऊपर तक ओढ़े था। सोचा, सब काम छोड़कर जी भरकर इसे देखूँ। फिर जब्त कर गया। इस समय खास डिटेल्स उस तरफ थीं। करवट बदलने, या सीधे होने का इंतजार करना ही मुनासिब लगा। मैंने सिगरेट के चन्द कश ज़ोर-ज़ोर से खींचे ! इस उम्मीद में कि कुछ गर्माहट आ जाए।

सिगरेट में कोई दम नहीं था। फकत कमज़ोर सा कसैला धुआँ था। वह भी उठ नहीं पा रहा था। सफर का सोलहवाँ घंटा था। दाँतों पर चिपचिपाहट इतनी हो उठी थी कि ब्रुश करने की तबीयत हुई। शायद हालत कुछ बदल जाए। साँसों की बदबू मुझे हमेशा दबा देती है। किसी तरह सूटकेस खोलकर टूथपेस्ट और ब्रुश निकाला। तौलिया कंधे पर डाला और बाथरूम में चला गया। सफाई के वे क्षण अति कष्टप्रद थे। वाशबेसिन, टैप का हैंडिल और पानी सब लग रहे थे। लौटकर रजाई या कम्बल में घुसना होता, तो और बात थी। यहाँ तो वह सख्त और ठंडी ईज़ीचेयर मेरा इन्तज़ार कर रही थी, जिस पर पिछले बीस मिनट मैंने करीब-करीब जख्मी होते हुए ही बिताए थे।

मुँह पोंछते हुए लौटा। तौलिया कटहल की खाल हो गया था। मेरा चेहरा छिल गया। सूटकेस बन्द किया और पत्रिका को मेज़ पर रखा। जैसे पत्रिका न हो, कम्बल हो, मुझे आशा थी—एक-आध गर्म कहानी ज़रूर उसमें होगी। ज़्यादा बिकने वाली पत्रिकाओं के बारे में

यह आश्वस्ति रहती है। मेरा यह काम जल्दी ही खतम हो गया था। कुर्सी पर जमने से पहले मैं कुछ गर्मी चाहता था। पत्रिका से या उस करवट सोयी औरत से यह जरूरत पूरी नहीं होनी थी। मैं बाहर निकल आया। तलाश में।

यहाँ का टी-स्टाल जाग रहा था। ग्राहक तो इसका कारण नहीं थे, कोई गाड़ी भी जल्दी ही आने वाली नहीं थी। कुछ चोट्टे जरूर अन्दर अंगीठी को घेरे बैठे थे। सबके सब छँटे हुए बदमाश मालूम होते थे। बतिया रहे थे, मेरे पहुँचते ही खामोश हो गये। मेरा सन्देह और बढ़ गया। साले स्मगलर होंगे। परन्तु मुझे क्या लेना-देना था। मैं तो कुछ गर्मी तलाशने आया था। खाली चाय से काम नहीं चलता। शीशों के मर्तबानों में नमकीन थी। एक थाल में खोये के लड्डू रखे थे। यह ब्रज क्षेत्र था—लड्डू अच्छे होने चाहिए थे। मैंने लड्डू और मठरियाँ चबाना शुरू कर दिया। तब तक चाय का गिलास भी आ पहुँचा। अब मज़ा आ रहा था। मठरी का जायका और चाय के घूँट। चार मठरियाँ और एक गिलास चाय और ली। मुझे लगा मेरे जड़ाने का एक कारण यह भी था कि मैं कुछ भूखा था।

चाय वाले ने कहा, 'बाबू! अन्दर आ जाओ। आग सेंक लो।' मैं अपने को रोक न सका। अँगीठी के पास आराम से खड़े होकर मैंने सिगरेट जलाई। अपने साथियों को गौर से देखा। मुझे लगा कि इन आदमियों में टुच्चापन नहीं था। दूध वाले किस्म के लोग थे। दूध के चक्कर में आधी रात को ही निकल पड़ने वाले। सुबह तीन वाली उस गाड़ी पर हजारों दूध के डिब्बे चढ़ते थे। मैं पहले भी दो-तीन बार इस लाइन पर सफर कर चुका था।

वहाँ रुके रहने की भी हद थी। पौना एक बज रहा था। मैं वेटिंग-रूम लौटने के सिवा कुछ नहीं कर सकता था। कुछ आशंका भी हुई।

मेरा सूटकेस कोई उठा कर चलता बने तो! मेरे तमाम सर्टीफिकेट उसमें रखे थे। मुश्किलों से हासिल किये गए कागज़। मैं आतुर हो उठा। तेज कदमों से वापस आया। दरवाजा तो खुला था परन्तु बत्ती ऑफ थी। अन्दर अँधेरा था। मैं झुँझलाया। इसका मतलब था, उनमें से कोई या दोनों सो नहीं रहे थे। मेरे बाहर जाते ही हरामीपन शुरू कर दिया। मुझे अपने सूटकेस की फिक्र थी। टटोलकर देखा—यथावत गोल मेज पर रखा था। कुर्सी भी मिल गई। मैं बैठ गया। अँधेरा कुछ हल्का हुआ। सर्दी काफी बढ़ गई थी। इसकी वजह अँधेरा भी बन गया था। मुँह से सी-सी निकालने की इच्छा हो रही थी। यह मेरी बचपन की आदत थी। परन्तु वैसे ही कड़कड़ाता बैठा रहा।

मैं बत्ती जलाने की बहुत ज़रूरत महसूस कर रहा था। अँधेरे में मैं क्षण-प्रतिक्षण असहाय और बेबस होता जा रहा था। हालाँकि दूसरा दिन जीवन का एक महत्त्वपूर्ण दिन होना था। मैं इंटरव्यू देने जा रहा था। एटॉमिक पावर में। यह मेरे लिए एक सुनहरा मौका था। अपनी बरसों की आकांक्षा को पूरा करने का। इसमें कई सवाल हल होने को थे। मसलन आर्थिक स्थिति, जीवन-स्तर और उसका सान्निध्य। मुझे नहीं मालूम ये सब सवाल कैसे जुड़कर एक हो गए थे। पिछले दो बरस मैंने इसी बारे में सोचते हुए बिताए थे। कब वहाँ वेकेन्सी निकले। हर सुबह अखबार निराश कर जाता। फिर एक दिन जगहें निकलीं। मैंने धड़कते दिल से एप्लाई किया। प्लेन पेपर एप्लीकेशन थी। खूब बढ़ा-चढ़ाकर एक्सपीरियेंस दिखाया। स्टेनलैस स्टील वेल्डिंग, पाइप इरेक्शन, फैब्रिकेशन, इंस्पेक्शन के अति सुग्राहक यंत्रों का उल्लेख सब किया था। रशियन लैंग्वेज का कोर्स भी करना दिखा दिया। पूरी आशा थी कि आएगा। और बहुत दिन बाद सचमुच इंटरव्यू कॉल आ पहुँची। मैं उन्माद से भर उठा था। मोर्चा मार लिया—इस वेहूदे शहर और इस वाहियात नौकरी से पीछा छूटेगा।

मैं बड़ा उछला। वास्तव में बहुत उकता चुका था। नौकरी उतनी

बुरी नहीं थी परन्तु मन:स्थिति के प्रतिकूल थी। दबना बहुत पड़ता था। साथ के लोग बड़े 'ठोकू' किस्म के मालूम होते थे। सब नान-क्वाली-फाइड थे। फ्लोर से उठते-उठते बरसों में यहाँ तक आए थे। तीन चौथाई आदमी खैनी खाते थे। पीले-पीले दाँतों वाले। हर समय दफ्तर की दीवारों पर थूकते रहते। ओंठ के नीचे फुड़िया-सी फुलाए रहते और बार-बार पिच्च करते। औरतों के बारे में फूहड़ लतीफेबाजी मेरे साथ के लोगों का प्रिय व्यसन था। मसलन फलाँ साब एक दफे मूल गंज में फलाँ के साथ जुटे पड़े थे। जाड़े की रात थी। पेशाब महसूस हुआ। सोचा कौन अब निकलकर बाहर जाए। सो साब वहीं, उसी में कर दिया। इस लतीफे की कुत्सित सुरसुराहट को मैं देर तक अनुभव करता रहा था। एक बात और, मुझे वे सब भेलू समझते थे। मैं कुछ रिजर्व था और गैर शादी-शुदा था। दुबला-पतला था। मेरे बिस्तरे सम्बन्धी क्रिया-कलापों के बारे में उन सबकी एक पुख्ता धारणा थी। जिसे मैं कहीं तक का भी जोर लगाकर नहीं मिटा सकता था।

यह शहर भी बड़ा दोगला था। मतलब कि बात करते समय तो खूब फैला-फैला नज़र आता परन्तु सख्त ज़रूरत के क्षणों में सिमट जाता। इसमें बेशुमार माँसल और गुदगुदी औरतें भरी थीं परन्तु मज़ाल है कि उनमें से कोई भी किसी राह चलते को प्यार भरी निगाह से देखे। आँख मारे या कोई गुप्त इशारा करे। इसके अलावा गाहे-बगाहे अखण्ड रामायण कहीं-न-कहीं होती रहती। दो-दो माइक लगवाकर गला फाड़ते लोग भर्राये सुरों में—'द्रवउँ तो दसरथ अजर बिहारी' करते रहते। यहाँ रामायण को माइक पर इतने फूहड़ ढंग से पढ़ा जाता कि कोफ्त होने लगती थी। जिसको देखो अजर विहारी का लट्ठ सा मारता।

इंटरव्यू आने की खुशी दोहरी थी। सेंट्रल गवर्नमेंट की नौकरी और फिर उस शहर के करीब, जो मेरा अपना शहर था। मेरे दोस्त इसी शहर में रहते थे और वह तो अभी तक थी। उसके खास चाचा एटॉमिक पावर प्रोजेक्ट में बड़े इंजीनियर थे। मेरे कई दोस्त वर्क चार्ज पर लगे

हुए थे। सेंट्रल गवर्नमेंट की सरविस के एलाउंस वैसे ही ज़्यादा होते हैं, फिर यहाँ तो प्रोजेक्ट एलाउंस और था। तगड़ी कमाई का यारों को बड़ा गुमान था। मैं जा रहा था—परमानेंट पोस्ट के लिए इंटरव्यू देने। मामूली बात नहीं थी। तीन सौ पचास का ग्रेड था। अगला ग्रेड गजेटेड होता था। साइन्टिफिक आफीसरी मौका मार लेता तो हर तरफ से वाह-वाह थी। वह तो शुरू से ही कहती आ रही थी।

वह इससे अधिक और क्या कह सकती थी। यह मेरी ज़्यादती थी जो उससे बहुत कुछ सुनने की अपेक्षा करता था। वास्तव में, अपने को पीड़ा मैंने खुद ही दी थी। क्योंकि उसे सही तौर पर समझ नहीं पाया था। मुझे उसके करीब आने में दिक्कत नहीं हुई थी। इसी बात से यह ग़लतफहमी मेरे में पैदा हुई कि, उसे पाना भी आसान है। देह को मैंने पा लिया था। उसके बाद मैं अहंकार में सोचने की ताकत खो बैठा। उसकी स्निग्ध त्वचा को निरंतर क्यूटिक्यूरा की ज़रूरत पड़ती थी। बेहद कोमलांगी थी वह। एक बार गुस्से में उसके एक थप्पड़ जड़ देना मुसीबत का कारण बन गया था। हफ्ते भर उसके गालों पर पाँच लकीरें बनी रहीं। समानान्तर, रिसती हुई-सी, सुर्ख। मगर वह मुझे प्यार करती थी। वैसा प्यार किसी और ने नहीं दिया। कम बोलना उसकी आदत थी। मुझे लगा वह मेरे इन्तजार में घड़ियाँ गिन रही होगी।

मैं अँधेरे में था। मेरा समय व्यर्थ होता जा रहा था। कल मेरा इन्टरव्यू होना था। मेरी इस बारे में तैयारी नहीं के बराबर थी। जॉब रिक्वायरमेंट के अंतर्गत जिस किस्म का अनुभव माँगा गया था, उसके बारे में मेरा सैद्धांतिक ज्ञान ही अधूरा था। प्रैक्टिकल एक्सपीरियेंस की बात छोड़ भी देता तो कम-से-कम जनरल नॉलेज के तौर पर कुछ बता सकने योग्य मसाला चाहिये था। मैंने काफी ढूँढ़-ढूँढ़कर सब इकट्ठा किया था, परन्तु सीरियसली स्टडी नहीं कर पाया था। जब से इंटरव्यू आया था, मेरे सोचने और हवामहल बनाने की रफ्तार बढ़ गई थी।

मैंने चाहा कि उठकर बत्ती जला लूं और पढ़ूं। परन्तु उठ न सका।

मेरे को स्विच तक जाना पड़ता । बोर्ड उन सोते हुए लोगों के सिरहाने पर लगा था । नहीं, उस औरत के सिरहाने पर था । मेरी वहाँ तक जाने की हिम्मत नहीं हुई । मन कमजोर हो उठा । मैं उस औरत और कम्बल के इतने नज़दीक नहीं जाना चाहता था । ये दोनों उस समय तीव्रता से मुझे खींचते थे । मान लो—मैं कुछ नहीं करता । स्विच दबाने से पहले कुछ देर यूँ ही वहाँ खड़ा रहता । उसके बाहर निकले चेहरे को देखता रहता । या उसको साँस लेते महसूस करता रहता । हो सकता था किसी निरापद कोने से कम्बल के रोयें भी छूकर देख लेता ।

मैं यूँ ही पड़ा रहा । बेबस—ठिठुरता । अँधेरे ने मेरी रही-सही गर्मी भी निकाल ली थी । अब तो पलकों पर जाड़ा महसूस हो रहा था । आँखों में नींद भरी थी । दोनों हाथ मैंने कसकर छाती पर बाँध लिए थे । सुखद कल्पनाओं का सहारा लेकर वक्त काटना चाहा, तो बदन कँपकँपाने लगा । मैं बुरी तरह ठिठुर रहा था । बाहर होता तो दाँत बजने लगते । यहाँ बदन अकड़ा जा रहा था । बाजू हिल रहे थे । मुझे मालूम ही नहीं पड़ा कब मेरे मुँह से सी-सी निकलना शुरू हो गया और मैं एक अर्द्ध-सन्निपाती निद्रा में लीन हो गया ।

बत्ती उसी ने जलाई थी । वही नींद से उठ खड़ी हुई थी । उसने मेरे को अच्छी तरह देखकर अपना कम्बल ऑफर किया था । ऑफर ही नहीं—आग्रह करते हुए आकर ओढ़ा-सा दिया था । क्योंकि मेरी अनवरत सी-सी को उसने सुना था । जागी थी और बत्ती जलाकर मुझे बेतरह काँपते हुए भी देखा था ।

मुझे कुछ होश नहीं था । एक गर्म कम्बल मेरे को उढ़ा दिया गया—इतना महसूस हुआ था । कम्बल में किसी जिस्म की गरमी पहले से ही भरी थी । मेरी संज्ञा लौटती गई । जब तक मुझे पता लगे कि क्या घटना हो गई है—वह दूसरा कम्बल निकालकर ओढ़ चुकी थी । फिर

धीरे से सरककर सो गई। मैं धन्यवाद तक न कह सका। हाँ, प्राण बचने के आसार ज़रूर नज़र आ गए थे। मैंने कम्बल को अच्छी तरह चारों ओर से लपेट लिया। बड़ा सुख प्राप्त हुआ। सिगरेट सुलगाई। ऐसे नरम कम्बल पाने हैं तो कल के इंटरव्यू की तैयारी करो। भाग वहीं खुलेंगे। उसके साथ एक बार को मैं अभी तक के जीवन की सबसे सुखद घटना मानता था। शानदार नौकरी के बाद यह रोजाना का क्रम भी बन सकता था। वह हर रात मेरे साथ चारपाई जुड़ाकर पड़ेगी—वेटिंग-रूम तक में। मैं जाग गया। कम्बल लपेटे-लपेटे उठा। सूटकेस खोलकर कुछ नोट्स और लिटरेचर निकाला।

जरकोनियम धातु का नाम मैंने पहली बार नौकरी के उस विज्ञापन में ही पढ़ा था। परन्तु उत्साह यह था कि इसके बारे में जितनी जानकारी लाइब्रेरियों से मिल सकती थी, मैंने कबाड़ ली। बाकायदा नोट्स बना लिए। उस पद के अभ्यर्थी को जरकोनियम धातु की मशीनिंग का काम भी देखना होगा। इस धातु के बारे में पढ़ा कि यह उच्चतम तापक्रम तक ठोस बनी रह सकती है। इसकी मशीनिंग में फलाँ चीज टूल के साथ हो जाती है।

स्टेनलैस स्टील की वेल्डिंग का भी यही हाल था। मैंने कभी की नहीं थी। की तो माइल्ड स्टील की भी नहीं थी परन्तु वर्णन कर सकता था। बहरहाल, हैंडबुक वगैरह से पढ़ा। कम-से-कम अब इतना तो मालूम था कि इसमें निओबियम नाम का फ्लक्स उपयोग में लाया जाता है। लिटरेचर पढ़ते हुए मैंने एक काल्पनिक चित्र खींचा—वेल्डिंग लीड हाथ में लिए मैं किसी भारी स्ट्रक्चर पर चढ़ा हुआ हूँ—स्टैनलैस के इलैक्ट्रोड से रुपहली चिंगारियाँ फूट रही हैं। नीला धुआँ उठ रहा है। बार-बार इलैक्ट्रोड धातु की सतह से चिपक जाता है। मैं ज़ोर लगाकर छुड़ाता हूँ, फिर चिंगारियाँ और धुआँ ज़ोरों से उठने लगते हैं। प्रैक्टिस नहीं है—कोई बात नहीं। थोड़ी देर में ही आर्क बराबर चलने लगेगा। रॉड का लावा पिघलकर सीधा मेरे निर्देश पर चलेगा और मैं

लाइन मारता निकल जाऊँगा...।

अब मुझे कुछ विश्वास सा हुआ। मैं मौका आने पर लीड पकड़ने से इंकार नहीं करूँगा। परन्तु अभी तो सूची में बहुत से नाम बाकी थे। जिनका मानसिक स्तर पर प्रैक्टिकल एक्सपीरियेंस मुझे कल होने से पहले ही ले लेना था। सिर्फ एक पन्द्रह मिनट का इंटरव्यू मेरे लिए बेहतर ढंग से जीने का रास्ता खोल सकता था। और इन पन्द्रह मिनटों में कोई भी बात पूछी जा सकती थी।

एक ट्रम्प कार्ड भी मेरे पास था। बहुत सी डिटेल्स इंटरव्यू कमेटी को बताने से मैं मुकर सकता था। मैं एक सरकारी महकमे में था—सुरक्षा मंत्रालय से सम्बन्धित। किसी भी प्रश्न की गहराई में जाने पर 'डिफेंस सीक्रेट' के बहाने इनकार भी कर सकता था। मसलन—कम्पेरेटर्स, और डेड प्रीसिजन इंस्ट्रूमेंट्स। जिनका मैं सिर्फ नाम ही जानता था। एकाध को देखा भी था। परन्तु उपयोग करने का कोई अनुभव नहीं था। 'क्रेकडिटेक्टर' नाम की एक चीज़ थी, जिसके बारे में मैं लिटरेचर के सहारे आधा घंटे तक बोल सकता था। वैसे उसके दर्शन सिर्फ किताबों में किये थे।

कम्बल ने मुझे भयानक सर्दी से बचाया। साथ ही मुझे सुलाने की भी कोशिश कर रहा था। अच्छी खासी एस्कोर्ट थी। माहौल के खिलाफ। इंटरव्यू के बारे में जो उत्तेजना जागी थी, धीरे-धीरे शांत होने लगी थी। मेरे जैसे ही आएँगे। आजकल बात करने में चंट आदमी होते ही कितने हैं। फिर एक्स्ट्रा कैरीकुलर में मैं नम्बर ले जाऊँगा। मैंने तथ्यात्मक ज्ञान बढ़ाने के बजाय वहाँ दिये जाने वाले जुल सेट करना शुरू कर दिया। यह काम आराम से अँधेरे में भी हो सकता था। सर्दी की इस रात को मैं कुछ समय, उस कम्बल में आधा जागते आधा सोते काट सकता था। यह सम्भावना समयानुकूल थी। मैंने लिटरेचर और नोट्स मेज पर सरका दिये।

मैंने देखा कि मैं दोनों पाँव ऊपर समेटे कम्बल में लिपटा हुआ बैठा था। मैंने याद किया—ऐसा कब हो गया। मेरे जूते नीचे पड़े थे।

वह उठी थी। बत्ती जलाते तक मैंने देखा था।—'आप कम्बल ले लीजिये।' मैंने सुना था। करीब आकर उसने कम्बल दे दिया था। मेरी सब प्रतिक्रियाएँ सुषुम्ना से ही संचालित होती रही थीं। मैं कुछ न दिख सका।

सब सो रहे थे। मैं चाहता था—बत्ती बुझा दूँ। उसके लिए उठना पड़ता। स्विच वोर्ड के पास जाना पड़ता—यानी उसके पास। वैसे भी मैं अपने को उससे कुछ सटा हुआ महसूस कर रहा था। कम्बल में भीनी-भीनी खुशबू थी। हल्की उष्णता थी। कम्बल काफी शारीरिक था।

मैं उठा। कम्बल कुर्सी पर पड़ा रहा। मैंने जूते नहीं पहने। स्विच बुझाकर मुझे वापस इसी कुर्सी पर आना था। दो बजने में दस मिनट थे। करीब पौन घंटा मैं आराम कर सकता था। मैं बढ़ चला। फर्श बेहद ठंडा था और खामोश। उन दोनों की खाटें बिल्कुल समानान्तर लगी थीं। मैंने देखा बिल्कुल सटी हुई नहीं थीं। वह दूसरा कम्बल ओढ़े सोयी थी। उस कम्बल का जोड़ मेरे पास वाले कम्बल से मिलता था। सिर्फ रंग का फर्क था।

मैं उसके बाएँ था। वह इसी करवट लेटी थी। जिन्दा मालूम पड़ती थी। क्योंकि उसके चेहरे का अच्छा-खासा अंश बाहर था। बाल बिखरे हुए माथे पर छाये थे। उसके पुष्ट उभार स्पष्ट थे। साँसें बराबर चल रही थीं। इसके अलावा एक बात अजीब सी थी—उसका एक हाथ खाट से नीचे को लटका हुआ था। सर्दी में अक्सर लोग हाथ बाहर लटकाकर नहीं सोते हैं। वह सो रही थी।

मेरा हाथ जल्दी से स्विच की ओर बढ़ा। प्रकाश में मैं ज़रूरत से ज़्यादा ही देख रहा था। देखने के सिलसिले में एक तसल्ली हुई। रजाई और उसके नीचे का सोता हुआ आदमी मिलकर कब्र जैसी शक्ल बनाए थे। उसके ज़िन्दा होने का कोई सबूत नहीं मिल रहा था। फिर भी वह ज़िन्दा

तो था ही। मैंने स्विच आफ कर दिया। अँधेरा हुआ पर वैसा नहीं हो पाया जैसा में सोच रहा था। कहीं-कहीं हल्कापन था। मैंने खामख्वाह आँखें फाड़ीं। वहीं खड़ा था—उसके सिरहाने। वापस कुर्सी तक लौटना तो था परन्तु ज़ल्दी नहीं थीं। यह बड़ी आबजेक्शनेबुल बात थी—हो सकती थी। ज़रा सी पत्ती भी हिल जाती तो लगता था, क़ब्र फाड़कर वह जीता-जागता मुर्दा बाहर निकल आएगा।

फिर भी मैं झुक गया। उसके चेहरे के काफी करीब तक। आगे भी जाता अगर जा सकता। उसके केशों में बसी तेल की खुशबू से मुझे लग रहा था—मैं ज़्यादा दूर नहीं हूँ। अँधेरा अब कुछ बाधक बनने लगा था। स्थिति स्पष्ट नहीं थी। मुझे उसकी बाहर लटकी हुई हथेली का ध्यान आ रहा था। वह अँधेरे का आॅफर हो सकती थी। धीरे-धीरे मैंने हथेली को पा लिया। यानी निगाह के दायरे में ले लिया। हाथ वैसे ही बाहर था, और लटक रहा था। मैं उसको अपनी हथेलियों के बीच लेकर सहलाने जैसी बात सोच रहा था। मुझे अपने तन में अनेकों उष्मा स्रोतों की उपस्थिति अनुभव हुई। लगा, अगर ऐसे ही अपने को रोके रहूँगा तो थोड़ी देर में शरीर ज़ोरों से तपने लगेगा।

मैंने साहस से काम लिया। अपनी उँगलियों को उसकी हथेली के करीब ले गया। जहाँ तक संभव था। छू नहीं सका। वह बड़े आराम से लेटी हुई थी। वह बहुत सहज मालूम देती थी। इतनी सहज कि मैं आने वाली स्थितियों का अनुमान कर सकने में असमर्थ हो उठा। सम्भावनाओं के दरवाजे धकाधक खुलते और बन्द होते रहे थे। इस बीच मैं घुटनों के बल हो चुका था। कमर पर से काफी बोझ हट गया। मैंने अपना चेहरा कॉट की पाटी पर टिका लिया। इससे झुकी हुई गरदन को काफी आराम मिला। उसके शरीर की गंध अतिसुलभ थी, बल्कि उस स्थिति में मेरे ऊपर अच्छी तरह छाई हुई थी। शरीर में जो अर्द्ध-स्वचालित सर्किट थे, वे जाग उठे। मेरा दाँया हाथ धीरे-धीरे, संयम बरतते हुए सरकता रहा। कम्बल के किनारों पर लगे, बटे

हुए फुँदनों की काँटेदार बाउन्ड्री पार गया। अन्दर एक-दूसरे क्षेत्र में पहुँच गया। जहाँ गरमी ही नहीं, और भी उससे मिलती-जुलती कई चीजें थीं।

मेरा हाथ, अन्दाज से उसके वक्ष के ठीक सामने पहुँच चुका था। मैं चेष्टा कर रहा था कि अपनी साँस रोके रखूँ। परन्तु ऐसा हो नहीं पा रहा था। यद्यपि, मेरा हाथ बिल्कुल फ्री था, परन्तु एक असहनीय नैतिक बोझ से बेतरह दबे हुए होने के कारण, जरा भी आगे-पीछे होने में असमर्थ था।

वह वेटिंग-रूम पुराने समय का बना हुआ था, अंग्रेजों के वक्त का। तब से बराबर वह इसी काम आता रहा था। इसकी एक अपनी गंध थी—तीखी और बुसी-बुसी। मैं वास्तव में उस गंध से परेशान था। क्योंकि उसका आदी नहीं था। झटके से मैंने अपने को अलग कर लिया। उस औरत ने मुझे कम्बल ओढ़ने को दिया था। मुझ पर उपकार किया था। नहीं तो मेरी उस सर्दी में जान निकल जाती। ऐसी हालत में कम-से-कम इतना नहीं गिर जाना चाहिये था। उपकारी औरतें भी अपनी एक सीमा रखती हैं। फिर उसके पास तो, कब्र में लिपटा एक संरक्षक मौजूद था। जो खतरनाक साबित हो सकता था।

मैंने अभी-अभी बाहर निकाले गए अपने हाथ को साथ लिया और वहाँ से खिसक आया। मेरी कुर्सी पर गोल-मोल पड़ा कम्बल, अँधेरे के बावजूद मुझे साफ दिखाई दिया।

मैं कम्बल में लिपटकर अच्छी तरह कुर्सी पर पसर गया। सोने का न मौका था, न मूड। घड़ी के चमकते डायल पर निगाह जमाए रखूँगा—ऐसा फैसला मैंने कर लिया था।

कम्बल में लिपटा मैं तेजी से सोच रहा था। और सर्दी से वाकई बचा हुआ था। उस स्थिति को चिंतन तो नहीं कहा जा सकता, पन्तुर

ऐसे क्षणों में कुछ निश्चय हम ले लिया करते हैं। मैंने तै किया कि घड़ी के हिसाब से उठकर बत्ती जलाने जाने तक अपने को इस औरत से दूर ही रखूँगा।

एक विशेष किस्म का मजा उस कम्बल में आ रहा था। मुझे बचपन की एक बात याद हो आई थी। हमारे शहर में हर साल गीता प्रेस गोरखपुर की गाड़ी आया करती थी। यह गाड़ी एक चलती-फिरती, धार्मिक पुस्तकों की दूकान थी। मैंने, और अपने साथियों की तरह, कई किताबें उस दूकान से खरीदी थीं। क्योंकि वे निहायत सस्ती थीं और सचित्र थीं। उनमें से एक किताब ने मुझे बेहद खींचा था। उसका नाम था—ब्रह्मचर्य, या शायद ऐसा ही कुछ। उसमें बालकों को मैथुन से कतई बचे रहने का उपदेश काफी जोर देकर दिया गया था। विभिन्न प्रकार के मैथुनों की सूची दी गई थी। इसमें किसी भी स्त्री के सम्बन्ध में सोचना, उसे स्पर्श करना, उसके कपड़े वगैरह छूना, लिपटना आदि सब गिनाए गए थे। मानसिक मैथुनों से भी सावधान रहें—यह बात तब तो समझ में नहीं आई थी। परन्तु अब मैं इसका महत्व समझने लगा था। उस समय भी, उस औरत के खुशबू-भरे कम्बल में लिपटे हुए मुझे, अपने किसी न किसी प्रकार की मैथुन प्रक्रिया में लिप्त होने का, अहसास हो रहा था। मैं अप्रत्यक्ष रूप से उसके शरीर की गन्ध, गरमी और स्पर्श में लिपटा हुआ पड़ा था। उस बचपन में पढ़ी गई किताब पर मेरा विश्वास और जम गया। धीरे-धीरे स्नायविक तनाव बढ़ता जा रहा था।

मैं जब सर्दी में मरा जा रहा था—उसने मुझ पर दया दिखाई थी। अपने शरीर पर लिपटा हुआ कम्बल उतारकर मुझे दिया था। मुझे और स्वस्थ करने के लिए, क्या वह थोड़ी देर अपने साथ लेटने का सुख नहीं दे सकती थी? कम-से-कम ढाई बजे तक—मेरी गाड़ी आने तक। आखिर मैं एक इन्टरव्यू देने के लिए, बिल्कुल बेसहारा जा रहा था। मेरा कोई दूर का भी 'जैक' नहीं था। नैतिकता को ताक पर रख दिया

जाए, तो यह बात उसे भी युक्तिसंगत नज़र आनी चाहिये। 'उठूँ क्या ?' —मैंने अपने आपसे पूछा। 'बेकार है।'—कहकर मैं लेटा ही रहा। दया-माया करना उसका फर्ज था। मुझे दूसरों के उत्तरदायित्व नहीं ओढ़ने चाहिये—मैंने सोचा। हाँ, कोई स्वार्थ विशेष होता तो बात दूसरी थी।

यह औरत बहुत कुछ देने की सामर्थ्य रखती है—ऐसा मानकर मैं आशान्वित पड़ा रहा। हाँ, कम्बल के साथ काफी बेरहमी से काम मैंने लिया। जिसका नतीजा यह हुआ कि मैं अपने शरीर को लेकर बुरी तरह खिच गया। मुझे नहीं मालूम नीति ऐसे समय में, ठंडे पानी से नहाने के अलावा और क्या कहती है। मैंने तो जन-मान्य वाला तरीका अपनाया। संयम बनाए रखने के लिए, वही व्यावहारिक तरीका था।

घड़ी के डायल ने बताया—सवा दो। वेटिंग-रूम मेरे नीचे से खिसकने को तैयार होने लगा। मैं सावधान हो उठा। अपनी किसी भी संभावित योजना को सामने लाने का, उठने का वक्त हो गया था। नहीं तो कम-से-कम बीस मिनट और लेटा रह सकता था।

मैं उठ गया। कम्बल तह किया। अँधेरा वैसा ही था। स्विचबोर्ड की की तरफ चला। मेरे कदम मजबूती से पड़ रहे थे। और मुझे बहुत-सी बातों की चिंता नहीं रही थी। कब्र को कब्र मान सकता था। ताकत का प्रयोग करने को भी तैयार सा था। बजाय स्विच जलाने के, मैं उसके सिरहाने घुटनों के बल बैठ गया। पहली दफे की तरह अनिश्चितता अब नहीं थी। समय भी बहुत कम था। वह अब चित्त लेटी थी। हाथ दोनों अन्दर थे और मुँह पूरी तरह कम्बल के बाहर था। मैं बिना किसी दुविधा के उसके चेहरे पर झुक आया। इसका भी मक़सद था। मेरे और उसके ओठों का फासला एक-एक सेन्टीमीटर करके कम होता जा रहा था।... और वास्तव में जहाँ तक मुझे विश्वास है, थोड़ा-सा क्षेत्रफल आच्छा-

दित हो गया था। तपती हुई खुश्क सफरी सतहें किस भाव से स्पर्श-परता थीं—मैं जान नहीं सका। मुझे लग रहा था कि वह पूर्णतः निद्रा-मग्न है। इस छुवन से वह जाग ही नहीं सकती। मैं टिका रहा। फिर, सहसा जाने किसकी ओर से निश्चयात्मक किस्म का दवाव बढ़ा—मैं क्रियाबद्ध हो उठा। घोषित रूप से। उसने और कुछ जो भी किया, वह सार्थक था। आस्था पैदा करने वाला था।

यकायक, उसने कब्र की ओर मुँह करके करवट बदल ली। मैंने तो अपने हाथ को रोकना नहीं चाहा था, परन्तु रेडियम डायल ने रोक ही लिया। ढाई बज चुके थे।

मैंने अपनी तरफ से पंद्रह मिनट स्पेयर किये। और गौर से उसको देखा। वह कब्र से चिमटी जा रही थी। उसके हाथ रजाई के सिरे तक पहुँच गए थे। परन्तु ऐसा लगा कि वह सो रही है। मुझे परिस्थिति समझ में आ गई। शायद वह अपने पति को जगा हुआ आदमी समझ रही थी। उसे मेरे अधरस्पर्श में उसी प्रकार का अनुमान हुआ होगा। अपने इस फार्मूले को मैंने तुरन्त स्वीकार कर लिया। समय की कमी, शायद इसकी वजह रही हो। मैं पाटी पर बैठ गया था और उसके गालों से लेकर वक्ष तक सहला रहा था। इसके साथ-साथ अपने को पति से ऊँची चीज समझ रहा था। हालाँकि उसका मुँह उस तरफ ही झुका हुआ था।

मेरे पास सिर्फ आठ-दस मिनट थे। मुझे सूटकेस में कुछ सामान भी रखना था। कम्बल भी वापस करना था, जाने से पहले। मुझे कब्र-नुमा शक्ल में अद्भुत स्थायित्व दिखाई दिया और अनजाने में कहीं उस औरत के चरित्र में पौराणिक छाया मालूम दी।

इस भ्रम को तोड़ती, वह जल्दी ही पलट कर इस ओर हो रही। मेरा हाथ उसने अपने गाल के नीचे दबा लिया और चेहरा मेरी कलाई से बिल्कुल चिपकाकर सोती रही। यह मेरा हाथ, घड़ी वाला हाथ नहीं था। मुझे उसके जागने का पता चल जाने के बावजूद, समय की अनु-

भूति होती रही। मैं सोचने में समय बिताने लगा था।—बड़े भाग्य से मेरा इंटरव्यू एटॉमिक-पॉवर से आया था। शानदार ग्रेड था। किसी तरह टिप्पस भिड़ जाता तो मज़ा ही मज़ा था।—वहाँ कॉलोनी में क्वार्टर मिलता। क्लब भी था और सब सुविधाएँ थीं, प्रोजेक्ट एलाउंस। और सब से बड़ी बात थी—वह !

सुना था, प्रोजेक्ट की कॉलोनी में बने सेन्ट्रल स्कूल में उसका अपाइंट-मेंट होने जा रहा था। संसर्ग का घोर सुख—आजीविकाओं में रहते हुए हो सकता था। हम दोनों कमाते हुए, काफ़ी मजबूत हो सकते थे। भारी बात थी। 'जो भी हो—मेरा सेलेक्शन होना ही चाहिये'—यह भावना मेरे ऊपर छा गई। मैं इसके संदर्भ में अपने को टटोलने लगा। मुझे हैंडबुक से जरकोनियम की मशीनेबिलिटी और स्लेनलेस स्टील की वैल्डिंग के बारे में काफी आइडिया मिल गया था।

जरकोनियम मेरे लिए एक पूर्णतः अपरिचित धातु थी। और मैं कतई अपरिचिता के सिरहाने बैठा था। मुझे ख्वाब सा आने लगा। मैं एच० एम० टी० लेथ पर काम कर रहा हूँ। जरकोनियम की रॉड को चक में बाँध रहा हूँ। आत्म-विश्वास मेरे चेहरे पर है। जबकि जरकोनियम और एच० एम० टी० लेथ दोनों में किसी पर का भी प्रयोगात्मक अनुभव मेरे पास नहीं था। इसी तरह शायद संसर्ग का भी आइडिया ही आइडिया था। अनुभव, कम-से-कम प्रयोगात्मक ढंग का तो बिल्कुल नहीं था। एक तसल्ली-सी थी। दोनों तरफ से। इन्टरव्यू में ज़्यादा-से-ज़्यादा लगेंगे तो पंद्रह मिनट लग जायेंगे। इतना वक्त तो मैं कुछ-न-कुछ जताते हुए गुज़ार ही दूँगा।

निष्कर्ष यही निकला—सलेक्शन निश्चित है। तीन बजने में दस मिनट होने का भ्रम हुआ। मैंने बत्ती जलाई—कैरियर का सवाल था। सच निकला। प्रकाश में उसके चेहरे को देखना कष्टप्रद हो सकता था। बड़ी मासूम-सी शक्ल थी। आँखें गड़ जाने का खतरा था। वह जाने क्या सोच रही होगी। उसे कैसे पता हो सकता था—मुझे कब जाना है

और कहाँ जाना है । उसे तो वेटिंगरूम में ही रात का बाकी वक्त भी काटना था ।

मैंने जल्दी में सूटकेस खोला । नोट्स और लिटरेचर अंदर घुसाया । जूते पहने । बैठकर ही तसमे कसे । सूटकेस को हैंडिल से पकड़कर उठाया और खड़ा करके फर्श पर टिका दिया । तह किया हुआ कम्बल चेयर पर खामोशी से पड़ा था । कम्बल वैसे भी देखने में अलसाए से लगते हैं । फिर यह तो बड़ा मुलायम और बढ़िया कम्बल था । बड़ा कीमती मालूम दे रहा था । मैं कम्बल उठाकर उसके पास तक गया । अब भी उसके चेहरे पर कोई पकड़ने वाला भाव नहीं था । बिल्कुल निर्द्वन्द्व चेहरा था । मैंने उसको उठाना उचित नहीं समझा । चुपचाप कम्बल उसके पैरों की तरफ रख दिया । कुछ जमा नहीं । कम्बल उठा कर खोला और दोहरे में उस पर ओढ़ा दिया । दूसरा कम्बल भी उसी डिजाइन का था । परन्तु रंग जुदा था । इसलिए भी—कुछ हद तक, अलग से ओढ़ाया हुआ लग रहा था । मैं वापस मुड़ा । सूटकेस उठाया और सीधे, स्प्रिंगडोर धकिया कर बाहर सनसनाते हुए प्लेटफार्म पर आ गया ।

बाहर, बेहद ठंड थी और गाड़ी खड़े होने के बावजूद, बर्फीलापन कायम था ।

पहला दिन

दूसरे कमरे में सब लोग जमा हैं। वे रास्ते में हुई परेशानियों को हमेशा की तरह विस्तार से सुना रही होंगी। किचन में खनखनाहट हो रही है। नाश्ता बन रहा है। तब तक यह बैठक जमी ही रहेगी। मुझे यह झटका न लगा होता तो मैं भी वहीं बैठा होता। जैसे हर बार उनके आने पर होता आया है।

नन्दा मौसी आने वाली हैं—ऐसी ललक सबमें होती आयी है। सबसे ज्यादा तो मुझमें ही। पिछले सात-आठ दिनों से मैं अधिकतर उन्हीं के बारे में सोचता रहा हूँ। ख्याल आते ही मीठी सिहरन होने लगती थी। इस दफे अरसे बाद वे आ रही थीं। पाँच साल के बाद। मैंने उन दिनों की तरह अपने-आप से बातें करना शुरू कर दिया। अनजाने ही। पहले तो यह रोग ही बन गया था।

यह अच्छा लगा था। इस तरह से एकान्त ढूँढकर उनके बारे में सोचना। उनके यहाँ आकर रहने के दिनों के बारे में सोचना। और सोचने की मिठास अनुभव करना। नन्दा मौसी मेरे लिए शुरू से सोचने और कल्पना करने का सामान रही हैं। इसमें मेरा बचपन भी शामिल है।

रात देर तक उनके बारे में बातें होती रहीं। फिर मैंने अलग से (अपने आपसे) बातें कीं। सुबह सबसे पहले उठ गया। तैयार हुआ, उन्हें लेने जाने के लिए। पिताजी को उठाया। अभी भी गाड़ी आने में एक घन्टे से ऊपर समय था। जाड़े की कोहरे से भरी सुबह थी। बहुत प्यारी और

अन्तरंग। मैंने बिस्तरों पर एक निगाह डाली। रेशमी लिहाफ, गुदगुदे गद्दे और तकिये। मन कांसे-सा झनझना उठा। कितनी खूबसूरत सेटिंग रहेगी। सेमल की रुई से भरे तकिये और नन्दा मौसी का रेशमी व्यक्तित्व। आज जागे हैं इस वक्त। रोज थोड़े ही जागेंगे। कल, परसों...इस समय कमरे की स्थिर हवा में इस वक्त जाने कितना खुमार घुला हुआ होगा। उसमें उसाँसें खींचते करवटों की खुशबुओं में हम सो रहे होंगे।

मैं शायद पिछले दिन कुरेद रहा था। मुझे अचम्भा हुआ—किस तरह से पिछले पाँच साल मैं बिलकुल अलमस्त रह पाया हूँ। मौसी को लेकर बेचैन क्यों नहीं हुआ। देर-देर तक क्यों नहीं सोचता रहा!—असल में यह सामर्थ्य मुझे मौसी के यहाँ रहकर ही तो मिली थी। उससे पहले तो मैं कटी पतंग की तरह छुट्टा कहीं बहा जा रहा था। कगार पर थाम लिया था मौसी ने मुझे—इसे मैं अपने यहाँ ले जाऊँगी! यह मेरे पास पढ़ेगा। देखती हूँ कैसे नहीं...।

मैं तेज कदमों से चलता हुआ प्लेटफार्म की लम्बी, खचाखच भरी पट्टी को छानने लगा। यह उत्तेजना की तेज़ी थी। हम पहुँचे कि गाड़ी आ गई। कुछ देर रुककर आती तो संयत बना रहता। सबसे पहले मौसी दिखाई दीं। मुझे लगा कि भागकर उनके पास पहुँचना चाहिए परन्तु जाने क्यों मैं अपनी जगह खड़ा रह गया। मुझे भ्रम होने लगा था। जिस औरत को मैंने उस भीड़ भरे प्लेटफार्म पर पहली नज़र में मौसी मान लिया था वह मौसी जैसी कहाँ लग रही थी। बल्कि मौसी थी ही नहीं। कितना फरक था। पिछले आठ दिनों से एकान्त खोज-खोजकर जिस मौसी को देखता-सोचता रहा था, वह ऐसी कहाँ! इसी चक्कर में मैं अपनी जगह कीला हुआ रह गया।

उन्होंने भी मुझे देख लिया! हाथ हिलाने लगीं। अधिक दूरी पर नहीं थीं। साफ दिखाई दे रही थीं। उनके चेहरे पर उत्साह चमक उठा था। बच्चे दिखाई दिये। मौसाजी सामान उतरवा रहे थे। मैं सब कुछ भूलकर अपने वाले चेहरे से उनका चेहरा मिला रहा था। जैसे कोई

ज़रूरी काम कर रहा होऊँ। हालाँकि मुझे चाहिए था कि लपककर पहुँचूँ और उनके पाँव छूकर आगे की व्यवस्था करवाऊँ। पिताजी उन तक पहुँच गए तो मैं चौंक उठा। यथाशक्ति ज़ोर लगाकर भीड़ को चीरता उन लोगों तक पहुँचा। मगर बुझ गया-सा। वह बात आ ही नहीं पाई।

मौसी को उसी वक्त, उसी जगह फील हो गया होगा। उनके उत्साह और प्रसन्नता से दमकते चेहरे पर एक फीकी मुस्कुराहट आकर रह गई। मैं काफी संजीदा और उदास होकर पेश हुआ था। और मुझे इस बात का अहसास था। मगर क्या करता! क्या कर सकता था! मौसी का यह रूप देखने के लिए मैं तैयार कहाँ था!

उनकी त्वचा पर धूल और कोयले के कण बुरी तरह छाये हुए थे। तमाम स्निग्धता खो गई थी। जाड़े के दिनों में वैसे ही खाल खुश्क रहती है, उनकी गर्दन, बाँहों और चेहरे पर पपड़ीनुमा सफेदी छाई हुई थी। सिलवटें पड़ने की जगह सफेद खुलती—बन्द होती दरारें दिखाई दे रहीं थीं। खास तौर से ओठों के कोनों पर। केश और लटें पुराने तारों की तरह खिचे और मुड़े-तुड़े दिखाई दे रहे थे। या तो केशराशि का घनापन कम हो गया था या धूल भरे होने के कारण चिपककर रह गए थे। चेहरे पर शिकन न पड़ने की जगहों पर भी शिकन जैसी चीज़ें नज़र आ रही थीं। शाखद इन्हें ही झुर्रियाँ कहते हों।

बाद में देखा मौसा की भी यही हालत थी। हाँ, धूल भरे ज़रूर थे मगर बच्चों जैसे ही लग रहे थे। मैंने अपने को मनाने का प्रयत्न किया। आखिर छत्तीस घन्टे का सफर है। न नहाना न धोना। फिर गाड़ियों की भीड़। थर्ड क्लास में बिना रिजर्वेशन के बम्बई से यहाँ तक आने में ऐसी हालत हो जाना स्वाभाविक है। मगर मैं आश्वस्त न हो सका। पाँच साल पहले भी मौसी इसी गाड़ी से आई थीं। ऐसा ही लम्बा सफर था। तब तो वे और अधिक...।

जब से वे आई हैं माँ वगैरह उन्हें घेरे हुए बैठे हैं। यह नहीं सूझता कि उन्हें कम-से-कम हाथ-मुँह ही धोने का मौका दिया जाए। नहीं, दुनिया-

जहान की बातें अभी होकर रहेंगी। फिर मौसी कौन कम हैं।

मैं वहाँ नहीं बैठा। चुपचाप निकलकर अपने कमरे में आ गया हूं। मौसी इस रूप में मुझे सह्य नहीं हैं। नहा-धो लें तब देखा जाएगा। जरूर मन में फील कर रही होंगी।—नरेन मुझसे भागा फिर रहा है। छिः मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए। कितना स्वार्थी और छिछला हूँ मैं। मौसी ने मेरे लिए क्या कुछ नहीं किया! आज जरा ढल गई हैं तो इस तरह मुँह फेर रहे हो।

करूँ तो क्या करूँ। इमेज एकदम से टूट जाए तो शॉक नहीं लगता। फिर अभी कौन फैसला हो गया है। पाँच साल होते क्या हैं। थोड़ा-बहुत हेर-फेर हो सकता है, परन्तु पूरी तरह थोड़े ही बदल गई होंगी। अभी बाथरूम जाएँगी। उसके बाद ठीक से पता चलेगा कि...।

मैं दरअसल मौसी के सामने जाने को अनिच्छुक नहीं हूँ। न उनसे कट के यहाँ छुपा बैठा हूँ। मैं तो उनके बाथरूम जाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

हो सकता है वे कुछ नाराज़ हों। सब-कुछ ठीक निकला तो उन्हें मना लेना कौन मुश्किल काम है।

पिताजी दफ्तर चले गए हैं। मौसा नहा-धोकर निपट चुके, सोने चले गए हैं। और बच्चे बाहर खेलने। मैं इधर-उधर चक्कर काटता घूम रहा हूँ। तौलिया कंधे पर डाले। माँ किसी तरह पूजा में जा बैठें तो मौसी को देख लूँ।

मुझे बेचैनी अनुभव हो रही है। इसलिए नहीं कि माँ के जाने से पहले ही मौसी बाथरूम से निकल आएँगी। वे देर तक अन्दर रहने की आदी हैं। कम-से-कम आधा-पौना घंटा। नहाना उनका प्रिय व्यसन है। माँ को कोई खास काम तो है नहीं। यूँ ही खटर-पटर करती घूम रही हैं। झुँझलाहट होने लगी है।

मुझे जो कुछ देखना है आज ही देख लेना चाहिये। दृष्टिभ्रम का शिकार होकर खामख्वाह निस्संग हो जाना दुखप्रद होगा। अभी तक मौसी से कितना जुड़ा हुआ रहा हूँ। मेरे व्यक्तिगत क्षण उनकी उदारता के अनुगृहीत रहे हैं। सचमुच बहुत विशाल हैं मौसी। क्या हालत थी मेरी उस समय! इंटर में लगातार दो साल तक प्लक होने के बाद। दुत्कारे गए कुत्ते की तरह एक कोने में खटुआ-पाटी लिए पड़ा था। मौसी ने मुझे उठाकर कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया। आज मैं जो एग्ज़िक्यूटिव-ट्रेनी से कम की जगह पर अर्जी नहीं भेज रहा हूँ सो किसकी बदौलत।

माँ अन्दर चली गई। पूजा में देर तक बैठेंगी। मौका पाकर मैं गुसलखाने की खिड़की से सट गया हूँ। सफाई न होते रहने से खिड़की के शीशे बहुत धुँधले पड़ गए हैं। फिर भी कोशिश तो...। मेरी समस्त चेतना आँखों में सिमट आई है। मेरे से बहुत अधिक सम्बन्धित एक्सप्लोरेशन के लिए।

इस अनुसंधान के पीछे सबसे बड़ा हाथ है—उत्तरदायित्व निभाने की प्रवृत्ति का। सुबह से मैं अरुचिग्रस्त आदमी की तरह व्यवहार कर रहा हूँ। हालाँकि मेरा 'आदमी' ऐसा नहीं करना चाहता। वह बहुत कर्जदार और कृतज्ञ जो ठहरा। मुझे पूरा अहसास है कि मेरी यह असंयत बेरुखी उन्हें कष्ट पहुँचा सकती है। जो महज एक लम्बी यात्रा से उतरे धूल और झुर्रियों से भरे ढीले शरीर की वजह से उपजी है। कुछ ठोस आधार पाकर ही मैं इसे अपने अन्दर पनपने से रोक सकता हूँ।

आँखें उस धुँधलके के पार देखने के लिए कष्टपूर्वक लगी रहती हैं। एक लम्बे अन्तराल के बाद टटोलने जैसी कमज़ोर और अनुभूतिपूर्ण स्थितियों से वापसी पर मैं पाता हूँ कि अन्दर एक और धुँधलाता शीशा मौजूद है। खिड़की के शीशे से अधिक धुंधला।

मगर कतई अपारदर्शक नहीं। दिन, महीने और साल किसी शरीर पर पर्त-दर-पर्त चढ़ते रहें परन्तु अनुसंधान में बाधक नहीं होते। यह एक नये

किस्म का अनुभव था। मुझे गलतफहमी होने लगी। कहीं मौसी के बजाय अन्दर माँ तो नहीं...! तो फिर वे चींटियाँ कहाँ गईं। वह दौड़ते रक्त में चुभन डालने वाली असंख्य सुइयों का झोंका कहाँ पीछे छूट गया।

पहली बार जब उन्हें छुपकर देखा था तो अकस्मात एक ठहराव का सामना करना पड़ा था। त्वचा पर जो चाहे गुज़रता रहा हो परन्तु मन तूफान के बाद वाली शांति पा गया था। मौसी मुझे बचपन से ही रहस्यमय और भव्य लगती रही थीं। उनके बहुत करीब रहने पर भी उन्हें जान नहीं पाया तो जाने कैसे यह रास्ता सूझ आया था। वास्तव में मौसी को मैंने अब तक जितना देखा और जाना, सब बाथरूम की दरारों के माध्यम से ही।

उसके क्रूर हाथों ने मौसी को मुझसे छीन ही लिया—मैं सोचता हूँ। मस्तिष्क अवसाद से भरा हुआ है।

आँगन की धूप में बैठकर बदन पर तेल मल रहा हूँ। नहाने की तैयारी में। या, बाथरूम से बाहर निकलकर बरामदे से गुज़रते हुए वे मुझे देख लें, इसलिए। मेरे हाथ अपने बदन पर फिर रहे हैं, माँस-पेशियों के तनाव पर, त्वचा को स्निग्ध करते हुए। मगर मैं मौसी के शरीर से आक्रांत होता जा रहा हूँ।

वे गुनगुनाती हुई निकल आई हैं। बाल ऊपर बँधे हैं। कंधे पर गीले धोये हुए कपड़े हैं। आँगन में आकर सुखाने डाल रही हैं। मेरी ओर देखकर मुस्कराईं। तो मेरा तेल से चमकता शरीर देख लिया उन्होंने। मगर उनके चेहरे पर, जैसे कि मैंने सोचा था, यातना के चिह्न नहीं नज़र आते। वे उसी तरह गुनगुनाते हुए मेरी ओर देखकर अंतरंगता से मुस्कुरा रही हैं।

'क्यों, मेरे निकलने की इन्तज़ार थी। जाओ, नहाओ फुर्ती से!' वे कहती हैं। मैं तौलिये से कंधे ढक लेता हूँ। यही समझ में आता है कि बाथरूम में जाकर दरवाज़ा बंद कर लूँ।

गीले बालों को झटकती वे अन्दर जा रही हैं।

अच्छा है—मौसी अभी व्यस्त हैं। किस-किस के लिए क्या-क्या लाई हैं, यही देखना-दिखाना हो रहा है। मेरे लिए पैंट का कपड़ा और रेडीमेड बुशर्ट है। लेकर चला आया हूँ। बम्बई में रेडीमेड कपड़े बहुत अच्छे मिलते हैं। यहाँ यह चीज अव्वल तो मिलेगी नहीं, मिलेगी तो भाव सुनकर हिम्मत टूट जाती है।

दोपहर को सब लोग आराम करेंगे। कोई परेशानी नहीं। शाम को अगर मौसी बाहर चलने को कहेंगी तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। पहले जब संजी बहुत छोटा था तो भी वे मुझे लेकर बाज़ार या सिनेमा जाती थीं। मौसा उसे रख लेते थे। नौकरानी भी थी। अब तो कोई दिक्कत ही नहीं है। तब टालते नहीं बनेगा—यह सोचकर घर से बाहर ही रहने का प्रोग्राम बनाने लगता हूँ। किसी भी दोस्त के साथ। जो मिल जाए। सिनेमा, गंजिग, फ्लाश।

पहला दिन है। मौसी मेरे में आ रहे बदलाव को समझ जाएँ तो ही अच्छा।

रात को देर से लौटता हूँ। बरामदे से गुज़रते हुए देखता हूँ बिस्तर लग चुके हैं। बीच वाले कमरे में कोई सो रहा है। शायद मौसा हों। उन्हें पिताजी की तरह ही जल्दी सोने की आदत है। बाकी लोगों की महफिल मेरे कमरे में लगी है।

मैं दिखाने के लिए मौसी की हाजिरी में जाकर बैठ गया हूँ। वे अभी बम्बई के बारे में दिलचस्प और गैरदिलचस्प बातें सुनाने में व्यस्त हैं। मेरे छोटे भाई-बहन बड़े ध्यान से सुन रहे हैं।

मुझे देखकर मौसी ने बातों का सिलसिला तोड़ दिया है।

'अरे नरेन ! कहाँ गायब हो गए थे। मैंने तो सोचा था शाम को चलेंगे घूमने। तुम्हारा कुछ पता ही नहीं।...ठीक है, अब मौसी क्यूँ अच्छी लगेगी ! हम तो इतनी दूर से...।'

माँ आकर कहती हैं—'चलो भई ! खाना खा लो। तुम्हारे पीछे चूल्हा-चौका खोले अभी तक बैठी हूँ। नहीं तो हम लोग कब के खा चुके। तुम्हें अपने यार-दोस्तों से...।'

मैं कुछ रुखाई से कहता हूँ—'मैं खाना नहीं खाऊँगा। मुझे भूख नहीं है।'

माँ और मौसी दोनों इस बात की आलोचना करने लगती हैं। '...तुम्हें तो कभी भूख नहीं होती। देखो ! कैसी हड्डियाँ निकल आई हैं।'

माँ शायद मौसी को बढ़ावा देने के लिए कहती हैं—'नन्दा ! तुम्हारे यहाँ से आया था तो कुछ आदमी सा दिखाई पड़ता था। अब तो सूखता ही जाता है।'

मुझे लगता है मौसी इस बात से कुछ आहत हुई हैं। उनके चेहरे पर एक फीकी मुस्कुराहट आ गई है। ठीक वैसी, जैसी प्लेटफार्म पर सुबह आई थी।

खाना परोसते हुए माँ बताती हैं—उनके बच्चे तुम्हारे कमरे में सोयेंगे, और वे दोनों दूसरे कमरे में।

मुझे इस बेहूदगी पर गुस्सा आ रहा है। अभी तक मौसी अपने को नई दुल्हन समझ रही हैं। मौसा-मौसी अलग कमरे में सोयेंगे। और बच्चे मेरे पास। जिससे...। छिः कुछ तो सोचना चाहिये। पहले भी ऐसा होता था। मगर उस समय तो...।

खाना खाकर मैं बैठक में आ गया हूँ। उन लोगों के दफा होने तक यहाँ अखबार पढ़ूँगा। मौसी थकी हुई तो हैं ही। सोने के लिए जल्द ही उठ जाएँगी। मेरी खुद आँखें भारी हो रही हैं। पिछली रात ठीक से सो नहीं पाया। आज भी दिन-भर घूमता रहा हूँ।

माँ आ गई हैं। उन्हें रोशनी सोते समय नहीं भाती है। झल्लाकर कहती हैं—'अब जा के सोओ। अखबार दिन में पढ़ा करो। यहाँ तो फिर सुबह जल्दी उठना है...।' अखबार पटककर बाहर आ जाता हूँ। तीनों

कमरे एक कतार में हैं। बीच वाले कमरे में एक बिस्तर अभी खाली पड़ा है। मतलब मौसी अभी मेरे कमरे में ही हैं। चिढ़ हो आती है। इतने वक्त लौटते भी नहीं बनता है।

दो चारपाइयों पर बच्चे सो रहे हैं। हमारे घर के और उनके। मेरा पलंग अपनी पोजीशन में नहीं है। बच्चों की तरफ सरका हुआ है।

मौसी मेरे बिस्तर पर लेटी हैं। सचमुच सो गई हैं या यूँ ही बहाना किये पड़ी हैं, पता नहीं लगता। मेरे अन्दर आते ही जाग जाती हैं। जैसे इसी इन्तज़ार में थीं।

वे उठकर अलसाई-सी बैठ गई हैं। मैं पैताने की तरफ बैठ जाता हूँ। बहुत असुविधा महसूस करते हुए। शायद यह भाव मेरे चेहरे पर भी झलक रहा है। मैं आँखें झुका लेता हूँ।

मौसी कहती हैं—'सॉरी ! मैं तुम्हारे पलंग पर सो गई। असल में बच्चों को सुलाकर लेटी तो आँख लग गई।'

मैं खिसियाकर उठता हूँ—'नहीं। उसकी कोई बात नहीं। मैं तो यूँ ही देर से सोता हूँ।'

मुझे लगता है मौसी का इरादा जल्दी उठने का नहीं है। सेमल की रुई वाले मेरे दोनों तकियों के सहारे बड़े मजे से अधलेटी वे अपनी वेणी सहला रही हैं। चेहरे पर किंचित् शरारतपूर्ण मुस्कान है। हल्की-सी खीज उठती है। मगर यह सुबह के मुकाबले अधिक सहनीय लग रहा है। बल्कि अच्छा। खुशबू का मदभरा झोंका बीच में है। मौसी ने कोई अच्छा-सा सैंट रचाया है।

कोहनी के बल एक ओर झुककर वे आँखें मिलाते हुए पूछती हैं—'और क्या हालचाल हैं नरेन बाबू !'

मैं खुलकर उन्हें देखता हूँ। काफी सजी-सँवरी बैठी हैं सोने के लिए। कपड़े अभी नहीं बदले हैं। जाकर बदलेंगी या आज रात यूँ ही—मैं सोचता हूँ। सुबह के मुकाबले उनमें काफी फर्क है। गोरे रंग पर जहाँ ज़रूरी है और दूसरे रंग आ गए हैं। हाँ पहले की बनिस्बत बाल

काफी गिर गए हैं।

लिहाफ़ तह किया हुआ वैसा ही रखा है जैसा सुबह छोड़ गया था। काफी सर्दी है। मौसी बिना ओढ़े बैठी हैं। ज़रूर जाड़ा लग रहा होगा। मैं इस बारे में कुछ कहना चाहता हूँ परन्तु कह नहीं पाता। सिर्फ उन्हें देखे जा रहा हूँ। मेरी इस निगाह का मर्म भाँपते उन्हें देर नहीं लगती। संतुष्ट होकर अपनी निगाह ढीली छोड़ देती हैं। उनके चेहरे पर लापरवाही छा गई है। मुझे उनकी भरी हुई बाँहें और जाघें दिखाई दे रही हैं। उनके बैठने का ढंग ही कुछ ऐसा है।

उन्होंने बच्चों की चर्चा छेड़ दी है। मैं हूँ-हाँ करता जा रहा हूँ। मन में सोच रहा हूँ—सचमुच नन्दा मौसी उतनी नहीं बदली हैं जितनी सुबह लग रही थीं। प्लेटफार्म पर। फिर वह टेरीकॉट का सफेद ब्लाउज था। और कोई रंग होता तो लम्बे सफर के बावजूद बगलों का पीलापन उस तरह नहीं झलकता। मगर वह धुँधले शीशे से देखा गया दृश्य।

मौसी खुलकर एक अँगड़ाई तोड़ती हैं। वह बाथरूम वाला दृश्य अविश्वसनीय लगने लगता है। मौसी भली प्रकार सधी हुई तो हैं। अभी आलस उतारते समय उनके कमनीय हाथ ऊपर उठे थे। सीना बेतरह उभर आया था। यह सब वैसा ही था। फिर जाँघों का भराव! मुझे यह सब दिखाई पड़ रहा है परन्तु सुविधाजनक स्थिति नहीं मिल पा रही है। उल्टे लग रहा है कि मौसी मुझे दिखाने के लिए बैठी हैं।

उन्हें पता नहीं है कि मैं छिपकर उन्हें देख चुका हूँ। सबेरे।

भारी बोझ से दबा मस्तिष्क मन्द पड़ता जा रहा है। दृश्य भी उतना उजला-उजला नहीं है। नसें शिथिल पड़ रही हैं। देख रहा हूँ—मौसी उठकर जाने लगी हैं। चाहें तो थोड़ी देर और बैठ सकती हैं। थोड़ी देर क्या, सारी रात बैठ सकती हैं। आखिर वहाँ जाकर क्या तीर मार लेंगी।

चाहती तो होंगी परन्तु मेरे मुँह से कहलवाना चाहती हैं। पहले की तरह। तब मैं बहुत खुशामद से काम लेता था। बेवकूफ जो था। बेव-

कूफ तो खैर नहीं कह सकते, तब मौसी थीं ही ऐसी स्थिति में। जिसे चाहतीं डोमिनेट कर लेतीं। मैं तो था किस गिनती में।

मैं मन-ही-मन कुढ़ रहा हूँ। हुँह! मैं इनकी खुशामद करूँ! अब इनमें बाकी क्या है! देखता हूँ कौन किसकी खुशामद करता है।

मैं सप्रयत्न आँखें खोलकर कहता हूँ—'अच्छा! जाइये, आप थकी हुई हैं। आराम करिये!'

वे शरारत से मुस्कुराते हुए कहती हैं, आँखों में आँखें डालकर—'अरे, आराम हम जैसों को नसीब कहाँ! तुम्हारे मौसा जो इन्तजार कर रहे होंगे। अच्छा, गुड-नाइट! स्वीट-ड्रीम्स!'

एक बोझिल तंद्रा मेरी जाग्रत बने रहने की ताकत छीन लेती है। बेबस बिस्तरे पर लेटा हूँ। शायद यही इस रात की नींद है। थोड़ी देर बाद अनुभव होता है—वह बेबसी उस सम्मोहन के अन्तर्गत है जिसमें मौसी मुझे बाँध गई है। ठीक है, मेरी पलकें मुँदी हैं। हाथ-पाँव निष्चेष्ट हैं। मगर मैं चलती फिल्म की तरह, किसी पर्दे पर उतरती दृश्यावली देखते रहने के लिए मजबूर हूँ।

मौसी निर्वस्त्र एक रत्नखचित जड़ाऊ सिंहासन पर बैठी हैं। उनके हाथ में काँटेदार दण्ड है। भयोत्पादक शासकीय मुद्रा। सन्नाटे से भरा माहौल है जिसमें कोई अपराधी पेश किया जाने वाला है।

अपने तमाम गत्यावरोध को बटोरकर झोंक देना चाहता हूँ। ताकि यह भ्रमात्मक दृश्य खंडित हो सके। क्या शासक और दण्डाधिकारी सिंहासन लेकर बाथरूम में दरबार सजाया करते हैं! क्या अपराधी हथकड़ी-बेड़ियों में जकड़ा धुंधले पर्दों के पीछे खड़ा रहता है! नहीं, यह सब झूठ है।

मैं जिन बन्धनों में बँधा हूँ वे जन्मजात हैं। आदिम और व्यवस्था-जनित। दोनों में कौन-सा भारी पड़ रहा है? यही उत्सुकता है जो

मुझे इस अनाचार को सहने के लिए मजबूर कर रही है। देखूँ क्या होता है !

कोई मेरे बिस्तर पर आ गया है। लिहाफ के अन्दर मैं उसकी मौजूदगी अनुभव कर रहा हूँ। सम्मोहन टूट जाता है। मुझे लगता है किसी के आने से मेरी नींद खुल गई है। उठकर बत्ती जलाता हूँ।

उनका छोटा लड़का है। संजी। सोते-सोते उठकर मेरे पास आ गया है। किसी बड़े के पास सोने की सुरक्षा के लालच में। बड़े मजे से आँखें बन्द किये पड़ा है। मुझे कोफ्त होने लगी है। मेरी आदत अकेले सोने की है। कम-से-कम इस लड़के के साथ सोते हुए मुझे नींद नहीं आ सकती। जी करता है इसे उठाकर दूसरे बिस्तर पर लिटा दूँ। कहीं रोने न लगे ? रोएगा तो धमकाकर चुप करा दूँगा। आखिर मेरा उस सम्मोहन को ओढ़कर लेटना क्या जरूरी नहीं है। खासी दृश्यावली चल रही थी। शायद किसी-न-किसी रिश्ते की व्याख्या हो जाती। इसने सब चौपट कर दिया।

मैं रजाई उघाड़कर उसे ध्यान से देखने लगता हूँ। आखिर यह है क्या चीज ! मन में गुस्सा तो था ही। उसके प्रति विरक्ति भी जागने लगी है। बिल्कुल आलूबुखारा टाइप बच्चा है। गिलगिला। सोते हुए इसके मुँह से चुसकियाँ लेने की आवाजें आ रही हैं। बड़े मजे से अँगूठा पी रहा है। एक झबलानुमा स्वेटर और तंग पाजामा पहने है। पाजामे में पेशाब करने की जगह एक लम्बी दराज खुली है। मन वितृष्णा से भर उठा है। साला, रात को मेरा बिस्तर गीला कर दे तो ! मैंने झटके से उसे उठा लिया है। वह आँख खोल देता है। मेर हाथों से फिसलकर लेट गया है।

टुकुर-टुकुर मुझे देखे जा रहा है। मैं चाँटा दिखाते हुए उसे धमकाता हूँ और उठाकर दूसरे बिस्तर पर धकेल देता हूँ। भय के मारे वह चुपचाप वहाँ पड़ा है। बत्ती बुझाकर मैं फिर से लेट जाता हूँ। कोशिश में।

बहुत देर से निश्चेष्ट पड़ा हूँ। मौसी दिखाई नहीं देती हैं। वस्तुतः दृश्य बहुत ही अस्पष्ट हो उठा है। काफी ज़ोर लगाता हूँ तो वह पाजामे में दराजवाला, मुतहा बच्चा बाथरूम की खिड़की से सटा हुआ खड़ा है।

कुछ समझ में नहीं आ रहा। मैं तो अकेला, कतई अकेला लेटा हूँ। मौसी को सामने आने में कौन-सी बाधा है।

मुझे शक होने लगता है। वह मेरे पास आकर लेट न गया हो। मैं दोनों हाथों से उसे रजाई के भीतर टटोलने लगता हूँ। पा जाऊँ तो टेंटुआ दबा दूँ। मगर वह पकड़ में नहीं आता। उफ़! इस तरह तो मैं रात भर सो नहीं पाऊँगा। बेहद परेशान हो उठता हूँ।

बड़ी यातनामय रात है। मौसी का ओर-छोर नहीं मिलता है। सो पाने की आखिरी कोशिश में अपने-आपको ढीला छोड़ देता हूँ। अब मैं एक भँवर में तेज़ी से घूम रहा हूँ। मौसी के गिर्द। वह बच्चा छोटी मछली की तरह इधर-उधर तैरता फिर रहा है। बड़े मजे से। भँवर उसे बाँध नहीं पाती है।

कुछ देर बाद मैं समझौते के लिए मजबूर कर दिया जाता हूँ। इस नियति को स्वीकार कर लेता हूँ। अब भी उसी भँवर में तेज़ी से घूम रहा हूँ। मगर आँखें तंद्रिल होती जा रही हैं। नींद आ रही है।

अरे! यह क्या। मैं बच्चों की तरह अँगूठा चूस रहा हूँ। शायद नींद आने का यही उपाय है। सोते हुए ऐसा लगेगा कि मैं अकेला नहीं सो रहा हूँ। बहुत सुरक्षित हूँ।

कीर्तन

मैं घर से तैयार होकर निकला था। बन-ठनकर, चौराहे तक भी न पहुँचा था कि देखा, पिताजी साइकल पर कीर्तन का सामान लादे चले आ रहे थे। वह अभी कुछ दूर थे। सड़क चूँकि नंगी थी, इसलिए दूर तक साफ दिखायी देता था। उनके कंधे पर मृदंग लटक रहा था। पीछे, कैरियर पर हारमोनियम। वह नीली जीन का झोला हैंडिल पर टँगा था, जिसमें मंजीरे, काँसे का घंटा और लकड़ी का हथौड़ा रखा होता था। मृदंग को एक लाल अँगोछा बटकर दोनों सिरों से बाँधा गया था, कंधे से लटकाने या गले में डालने के लिए।

पिताजी पैदल चल रहे थे। कंधे पर लटका हुआ मृदंग बराबर हिलडुल रहा था और सीधा उनके बदन के साथ डोलता हुआ बड़ा अजीब-सा लग रहा था। लकड़ी के हथौड़े का दस्ता भी बदसूरत नीली जीन के झोले ले बाहर निकला हुआ था। यह दृश्य देखकर मैं लज्जित हो उठा।

कॉलोनी में बंगाली कीर्तन ज़ोर पकड़ गया था। यू. पी. वाले भी उसमें शामिल हो गए थे। पहले हमारे यहाँ नियमित रूप से करीब साल भर पंजाबी कीर्तन होता रहा। उसमें कई देवानन्दकट हसीन लड़के आते थे। फिल्मी तर्जों पर जमकर गलेबाजी होती। स्वेटर और कमीजों के अच्छे-अच्छे नमूने देखने को मिलते। कीर्तन के बाद दिलचस्प बातों का सिलसिला छिड़ जाया करता था। परन्तु जमाना बदल गया। पंजाबी

पार्टी में फूट पड़ गई। उधर बंगाली कीर्तन की कुछ ऐसी धूम मची कि हर रोज किसी-न-किसी के यहाँ जमने लगा। पिताजी भी उसी रंग में थे। हमारे यहाँ हर मंगलवार को हफ्ते-के-हफ्ते कीर्तन होने लगा।

पिताजी सीधे दफ्तर से आ रहे थे। रास्ते में गांगुली दादा के घर से कीर्तन का सामान लिया होगा। बड़े संतुष्ट भाव से आ रहे थे। मन-ही-मन मगन। कॉलोनी भर में वह भक्तराज के नाम से प्रसिद्ध थे। बमुश्किल ड्यूटी और रोज़मर्रा के कुछ ज़रूरी काम निबटाते और शेष समय उपासना-पूजा में व्यतीत करते। उन दिनों उनकी कीर्तनप्रियता सीमा से बाहर होती जा रही थी। कई बार तो वह ऐसी बातें कर बैठते थे, जिन्हें हम लोग सहन नहीं कर पाते थे।

मैंने सड़क छोड़ दी और एक ब्लाक के पीछे को निकल गया। नहीं तो कीर्तन का सामान घर तक पहुँचवाना पड़ता। उसके साथ-साथ इस मामले में शिप्रा की गाड़ी निकल जाती और मुझे चौबीस घंटे और इंत-जार करना पड़ता।

मेरी चाल में मस्ती आने लगी। मेरा खयाल था कि मैं काफी जंच रहा था। मैं अपनी सबसे उम्दा पैंट पहने हुए था। हरे स्ट्राइप वाली बुश्शर्ट थी। खिलते हुए रूखे बाल। गणेश पनवाड़ी के शीशे में मैंने देखा, मेरा चेहरा चमक रहा था। मैंने सिगरेट ली। उसने मुझे सिगरेट-माचिस थमाते हुए व्यंग्यपूर्वक देखा। मैं घर से छुपाकर सिगरेट पीता था। बस्ती-भर में पिताजी के साधु स्वभाव और सज्जनता की धाक थी। लोग उन्हें बहुत मानते थे, खास तौर पर दुकानदार, यद्यपि वह प्राय: कर्ज में डूबे ही रहते थे। और मैं खूब सिगरेट पीता, रंगबाज़ी करता, जुल्फें बना-बनाकर निकालता, तो लोगों को तकलीफ होना स्वाभाविक ही था।

छुट्टी वाले दिनों को छोड़कर रोज वह शाम वाली गाड़ी से लौटती थी। गाड़ी से उतरकर वह सीधे घर की राह पकड़ती। मैं स्टेशन से

उसके पीछे-पीछे घर तक जाता था। यह रोज का सिलसिला बन गया था।

हमारी बस्ती में इंटर कॉलेज नहीं था। हाईस्कूल के बाद पास वाले शहर में दाखिला लेना होता था। हम लोग ट्रेन से आते-जाते थे। दुर्भाग्य से टाइम अलग-अलग था। डिग्री की क्लासें सुबह की शिफ्ट में लगती थीं। अतः मैं चार वाली गाड़ी से ही आ जाता था। शाम होते-होते मैं सज-सँवर कर स्टेशन की ओर निकल पड़ता था। पिछले दो-तीन बरस से मुझे उससे प्रेम था, परन्तु उससे खुलकर, जी भर बातें करने का अवसर नहीं मिल सका था। हाँ, नयनों की भाषा में हम कई बार बातें कर चुके थे।

अक्सर वह सिर झुकाये, किताबें वक्ष पर दवाए चलती रहती। उसकी एक झलक देख पाने के लिए मैं घंटों प्रतीक्षा करता था, परन्तु वह हमेशा इसी तरह गुज़र जाती। कभी-कभी जब वातावरण स्तब्ध होता और पीछा करते हुए सिर्फ मेरे कदमों की आवाज ही सुनाई देती रहती, तो वह एकाध बार मुड़कर पीछे देख लेती। यह एक अजीबोगरीब क्षण होता। उस दिन भी वह अकेली थी। उस दिन मैं तय करके आया था कि उससे हालेदिल कहकर ही रहूँगा। उसने प्लेटफार्म के अन्तिम सिरे को छोड़ते हुए मुड़कर मुझे देख लिया। सूरज अभी पूरी तरह छुपा नहीं था। मुझे लगा कि वह मुसकरा रही है। यह एक नई बात थी। एक नई कामयाबी। वैसे मैं उसे दो पत्र अब तक दे चुका था। एक बार तो पत्र उसके आगे गिरा कर तेजी से बढ़ गया था, दूसरी बार उसे काँपते हाथों से दिया था।

सिर्फ दो कदम आगे वह जा रही थी। उसकी सैंडिलों और मेरे जूतों के स्वर मिल रहे थे। बिजली का तीसरा खंभा भी गुजर गया। नाला आ गया। यह नाला फैक्ट्री से निकलता था। मुझे सहसा पिताजी का ध्यान हो आया। मैं ढीला पड़ने लगा। इतने शरीफ आदमी का लड़का एक लौंडिया को छेड़ रहा था! शिप्रा का भरोसा नहीं। बिगड़ गई, तो

कल सुबह हर घर में यही एक चर्चा सुनाई देगी।

वैसी हालत में मैं किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रह जाऊँगा। घर पर उस समय कीर्तन हो रहा था। और यह दूसरा कीर्तन चालू हो जाएगा। हो सकता है कि पिताजी जान देने पर उतारू हो जाएँ या सबको छोड़कर घर से भागने का नाटक करने लगें। ऐसा वह दो-तीन बार, माँ से झगड़ा होने पर, कर भी चुके थे।

हम दोनों बिल्कुल अकेले पड़ गये थे। सोचा, आज तो खिसक ही जाऊँ। परन्तु जाने क्या-क्या इरादे करके मैं आया था। मौका सुनहरा था। उस कच्चे, सुनसान रास्ते पर एकदम अन्धेरा रहता। एक बार उसे आलिंगन में कसने की अदम्य इच्छा थी। उसके बाद शायद चुम्बन लेने की भी। इससे आगे बढ़ने के मैं बेहद खिलाफ था, क्योंकि मुझे अपने प्यार की पवित्रता पर नाज था। वह अप्रभावित चली जा रही थी।

उसने फिर न तो मुड़कर देखा और न अपनी चाल बदली।

घर पहुँचा, तो आठ बजने वाले थे। मेरा मन तो मरा हुआ था ही, घर में घुसते ही मैं बिल्कुल मुरझा-सा गया। माँ रसोई में पराँठे सेंक रही थीं। पिताजी कमरे में दरी बिछवा रहे थे। वह पूजा से निबट चुके थे। मैं दिखावे को एक दफा कमरे में गया। अभी भगवान् की झाँकी सजनी बाकी थी। दरी अभी भी ठीक से बिछ नहीं पायी थी। रोज बिछाई जाने के कारण दरी से एक अजीब भबका-सा उठ रहा था। दीवार पर एक नई बेडशीट लगाकर बैक-ग्राउण्ड बनाया जाता था। उसके आगे दो टेबिलें मिलाकर रखी जाती थीं, एक टेबल कुछ नीची पड़ती थी। हम लोग चार ईंटें उठा लाते और दोनों का लेवल बराबर हो जाता। अभी यह सब होना था।

मैं रसोई में माँ के पास जा बैठा। भूख लग रही थी। अभी खा लिया, तो ठीक, नहीं तो कीर्तन शुरू होने के बाद, देर तक ठहरना पड़ता था। रसोई में कुछ जूठे बरतन एक कतार में रखे थे। मेरे छोटे भाई-बहन खाना खा चुके थे। अकसर वे लोग देर तक खाना खाते और बहुत

शोर मचाते थे। एक-एक पराँठे के पीछे झगड़ा होता था। माँ उन्हें मारती, मैं भी चिल्लाता, परन्तु आज सब चुपचाप खाकर पड़ोस में कीर्तन का बुलावा देने चले गये थे।

माँ ने बिना कुछ बोले खाना रखा। मैं चुपचाप खाने लगा। बच्चे किसी सहमे हुए उत्साह से दौड़ते हुए आये और सीधे उस कमरे में चले गए, जहाँ कीर्तन की तैयारियाँ हो रही थीं। कीर्तन में पिताजी के अति-उत्साह के कारण कई तमाशे खड़े हो जाते थे, इसीलिए सब सहमे हुए थे। सहमी हुई तो माँ भी थीं, परन्तु प्रकट में आक्रोश दर्शाने के बहाने अपने को छुपाए थीं। जिस दिन कीर्तन होना होता, एक तनाव-सा पूरे घर पर छा जाता था। माँ किसी से सीधे मुँह बात नहीं करती थीं। पिताजी चिल्लाते, गुस्सा होते और कीर्तन का इन्तजाम करते जाते। ऐसे समय मैं घर से कट-सा जाता। कभी सिगरेट पीने गणेश की दुकान तक चला जाता, तो कभी बाहर किसी चारपाई पर तकिया लगाकर लेट जाता। आते-जाते लोग बड़ी हिकारत भरी नज़रों से मुझे देखते। आलोचना करने लगते।

मैं निरीह बना बैठा खाना खा रहा था। माँ का चेहरा अँगीठी की आँच में दमक रहा था। वह गुस्से में थीं इसके कुछ कारण मैं जानता भी था। हम लोग कर्ज से दबे थे। हर महीने तनख्वाह के दिन एक मोटी रकम देनदारी में निकल जाती। राशन-पानी सब उधार आता था। सब्जी वाले और नाई तक के यहाँ हमारा खाता चलता था। मुझे इस व्यवस्था से काफी सुविधा थी। जो चीज चाहता, बिना पूछे पिताजी के नाम पर ले आता, क्योंकि घर का सामान अमूमन मैं ही लाया करता था। माँ चाहती थीं, उधार लेना बन्द कर दिया जाए। पिताजी इससे सहमत तो होते, और धार्मिक आयोजनों पर बहुत ज़ोर देते। यह एक बँधा हुआ फालतू खर्च था। इसमें तमाशेबाजी भी बहुत थी। माँ की चिढ़न परा-काष्ठा पर पहुँच चुकी थी।

मेरा छोटा भाई वहाँ आया। पिताजी ने उसे नई चादर लाने माँ

के पास भेजा था। वह आकर माँ से चादर निकालने को कहने लगा। माँ के हाथ में चिमटा था। वह उसीको नचा-नचाकर पिताजी को कोसने लगीं—अरे, ये हमारे प्राण क्यों खाये जाता है ! हमें चैन से जीने क्यों नहीं देता ? हमारी छाती पर मूँग दलता है, मूँग ! अरे, यहाँ धरी हैं चादरें तेरे बाप ने लेकर ! बड़ा आया नई चादर वाला।

पिताजी ने सुन लिया ! आँगन में आकर गरज उठे—चादर निकालनी है, या नहीं ?

गुस्से के बावजूद उनका स्वर कुछ दबा-दबा था। माँ ने मौका नहीं छोड़ा—ऐसा नई-नई चादरों का शौक रखता है, तो खरीद क्यों नहीं लेता दस-पाँच ! सारी कमाई तो इन रांड-चोटनों में उड़ा देता है। पापी ! इन बच्चों के मुँह की रोटी छीन कर तूने उन संड-मसंडों को खिलाई है ! भगवान करे, तेरे कोढ़ फूटे !

पिताजी आग होकर भभके—तो क्या तेरे बाप ने खरीदी हैं ये चद्दरें ? हरामजादी ! कैसी जुबान चलाती है ! अधर्मिन ! देखता हूँ तुझे...तुझे भी दाने-दाने को तरसाकर मारूँगा ! और लपककर बाहर जाने लगे, जैसे कोई आदमी घर छोड़कर जा रहा हो। यह हम लोगों के लिए उनकी एक परिचित मुद्रा थी ! लड़ाई का क्लाइमेक्स। फिर भी मेरे छोटे भाई-बहिन, जो यह तमाशा डरे-डरे से देख रहे थे, ज़ोरों से रोने लगे—बाबूजी ! बा...बू...जीऽऽ! घर छोड़कर मत जाओ, बाबूजी। अम्मा...बाबूजी को मना लो...अम्माऽ ऽ!

बच्चों के ज़ोरों से रोने-चीखने के कारण बावेला-सा मच गया। पड़ोस के लोग कुछ देर तो जब्त किये रहे, फिर सेन दादा निकलकर आए। बाकी लोग दरवाज़ों पर खड़े हमेशा की तरह देखते रहे। पिताजी सिर्फ अंडरवियर-बनियान में थे। सैंडोकट बनियान से जनेऊ बाहर निकलकर झाँक रहा था। उन्होंने बच्चों को हटाया, धकियाया। सड़क तक पहुँच गए। सेन दादा अपने हाथ की सिगरेट फेंककर लपके। पिताजी उनके पहुँचने पर भागने लगे, परन्तु वे भी उतनी ही तेज़ी से भागकर

उनसे लिपट-से गए और उन्हें खींचकर, समझाते हुए वापस लाने की कोशिश करने लगे। पिताजी रुआँसे स्वर में प्रतिरोध कर रहे थे। उन्हें वापस लाया गया। वह उस समय अर्द्ध-विक्षिप्त-से लग रहे थे।

मेरे सामने इतना सब नाटक हो गया, लेकिन मैं हमेशा की तरह चुप बैठा था। खाना मेरे लिए ज़हर हो गया था। हाथ दबाते-दबाते रुक गए थे। हाथ धोये। किचन की ओर बढ़ा। माँ अँगीठी के पास बैठी फफक रही थीं। अंगारों की दहक के वीभत्स उजाले में माँ का चेहरा बहुत स्पष्ट दिखाई दिया। झुर्रियाँ रेशा-रेशा करके साफ दिखाई दे रही थीं। मैंने माँ को सहारा देकर उठाया और उन्हें ट्रंकों की कतार तक ले गया। उन्होंने आँसू पोंछते हुए ट्रंक से दो नई चादरें निकालकर मेरे सामने डाल दीं। मैं उन्हें कीर्तन-स्थल तक पहुँचा आया।

इतने में फूफाजी ने आकर साईकल अन्दर खड़ी की। वह काफी मधुर भाषी, हँसमुख और मोटे आदमी थे। उनके आने से चैन-सा मिला। माँ से बातें करने लगे। मैं हलका हो उठा। माँ को बातें करते देख मुझे लगा, जो कुछ अभी हुआ था, वह एक दु:स्वप्न मात्र था।

और भी लोग आने लगे। बंगाली कीर्तन मंडली के काफी लोग आ गये। वे सब बाहर पड़ी हुई चारपाइयों पर जमते गए। ज्यादातर लोग सिगरेट फूंक रहे थे और गप्पें मार रहे थे। अन्दर पिताजी अपने काम में जुट गये। मैं एक बार दिखावे के लिए वहाँ गया। झाँकी सज चुकी थी। दीपक तैयार था। देसी घी एक कटोरी में पिघला रखा था। मैं कुछ देर यूँ ही खड़ा देखता रहा। उन्होंने मुझे कोई काम नहीं बताया और न मेरी ओर देखा। मैं सिगरेट पीने के लिए चुपके से बाहर निकल गया। गणेश की दुकान के कुछ पहले ही गुप्ताजी मिले। सपरिवार हमारे यहाँ आ रहे थे। मैंने देखा, लता भी थी और खूब चहक रही थी।

मैं लौटा, तो सब बैठ चुके थे। और लोगों के साथ शिप्रा के बाप को बैठा देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। धोती-कुरते में थे और आराम से बैठे थे। उनके माथे पर चर्चित चंदन का लम्बा टीका बता रहा था कि

वह भी पूजा-पाठ वाले आदमी थे। औरतें दूसरे कमरे में थीं। लगा, कहीं शिप्रा भी साथ न आई हो। मैंने उड़ती नजर औरतों पर डाली। सब वही हमेशा वाली थीं। शिप्रा नहीं थी। मैं आश्वस्त हुआ। फिर भी उसके बाप को देखकर अजीब सिहरन-सी हो रही थी। मैंने सोचा, किसी तरह इन्हें यहाँ इस कदर प्रभावित कर दिया जाए कि यह मुझे प्यार से घर आने का निमन्त्रण दें, परन्तु सिर्फ नमस्ते करके ही रह जाना पड़ा।

पिताजी ने उठकर अगरबत्तियों का एक गुच्छा जला दिया। यह शायद सिगनल था। बंगाली लोग अपनी-अपनी कमीजें उतारने लगे। कमीजें खूँटियों पर टाँग दी गईं। मृदंग वाला अपने काम में लग गया। मेरे छोटे भाई काँसे का घंटा हथियाने के लिए झगड़ने लगे। एक बंगाली सज्जन ने दोनों को डाँटा और घंटा-हथौड़ी कब्जा ली। फूफाजी के हाथ मजीरे लगे, दत्ता हारमोनियम बजाता था।

आखिर में गांगुली दादा आ ही गए। वह फायर ब्रिगेड के अफसर थे। सपत्नीक आये थे। आते ही दरबार को उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया 'हरि-हरि' कहकर बैठ गये। उन्होंने भी कमीज उतार दी। वह एकदम गोरे-चिट्टे थे। कमीज उतारने पर बहुत अच्छे मालूम देते थे। उनकी त्वचा चिकनी और रोमहीन थी। छाती पर एक भी बाल नहीं था। हाँ, मूँछें मक्खीकट रखने से वह कुछ अजीब-से ज़रूर लगते थे। उधर उनकी श्रीमतीजी भी प्रणाम करके बैठ गई थीं। दत्ता वैसे बहुत आत्मविभोर होकर कीर्तन करने वालों में से था, परन्तु जब भी मिसेज गांगुली आकर बैठती थीं, वह एक नज़र उस ओर ज़रूर डालता था।

अभी कीर्तन प्रारम्भ नहीं हुआ था, फिर भी उपस्थित समुदाय स्पष्टतः विभाजित दिखाई देता था। एक ओर आठ-दस कमीजें उतारे हुए तत्पर लोग थे, जिनकी शक्ति खर्च होनी थी, दूसरी ओर गुप्ताजी, शिप्रा का बाप वगैरह अन्य लोग थे। जो तटस्थ रहते थे, सिर्फ श्रोता, सिर हिलाने की सीमा तक ही सीमित। ऐसे लोग दीवार का सहारा लेकर आराम से बैठे थे, अन्दर औरतें बतिया रही थीं। उनका धर्म-लाभ

सीधा था। उन्हें कुछ विशेष नहीं करना था। बैठकर धीरे-धीरे फुस-फुसाना, अपने-पराये मर्दों को कीर्तन करते देखना, बाद में आरती खूब श्रद्धापूर्वक लेनी, प्रसाद पाना और रात के एक बजते-बजते पुनः सांसारिक हो जाना था। मैंने इस कारोबार से निर्लिप्त रह कर, सबको पानी पिलाने के लिए बाहर एक टेबल पर शीशे के एक दर्जन गिलास मय ट्रे के रखवा लिए थे।

स्वर सबसे मधुर गांगुली दादा का था। कीर्तन वह ही प्रारम्भ करते थे। स्टेमिना के लिए चट्टोपाध्याय और हरिपद मजूमदार विख्यात थे। इन्हीं दोनों के सहारे यह दो-ढाई घंटे का कीर्तन अविकल रूप से चल पाता था। मृदंग वाले ने एक बार जोर के हाथ चलाए और तैयार हो कर बैठ गया। गांगुली दादा ने नेत्र मूंद लिए, ध्यान किया और उठते हुए स्वर में गुरु-वंदना आरम्भ की :

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

पिताजी भी ध्यानावस्थित हो चुके थे। उनका मोटा, बेसुरा स्वर भी गांगुली दादा के स्वर के साथ गूँजने लगा। यह बेमेल मिश्रण लोगों को पसन्द नहीं आया, किन्तु सब चुप बैठे रहे। स्वरद्वय आगे बढ़ता गया :

अखंड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्,
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।

स्वर के गिरते ही सबके हाथ जुड़ गये, गुरु-महिमा में सब डूब गये थे। सहसा स्वर का एक लहरदार झरना फूटा।

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित नंदा,
हरे कृष्ण हरे राम राधे गोविंदा !

अब पुनरावृत्तियों का सिलसिला चालू हुआ। प्रवाह को नियंत्रित करता था हारमोनियम। गांगुली दादा गाकर प्रथम पंक्ति उच्चारित करते थे। शेष सब प्रत्युत्तर के रूप में आवेग सहित द्वितीय पंक्ति का योगदान देते थे। गति मंद थी। समाँ ठहरा हुआ था। धीरे-धीरे लय और

स्वर एक विशिष्ट दिशा में जाने लगे। कीर्तन-नुमा शक्ल उभरने लगी। तेजी बढ़ती ही गयी। गेय पद कुछ ऐसा था कि लौटते में 'राधे गोविंदा' आकर तीर की तरह लगता था।

कांसे का घंटा कुछ खास शब्दों पर बजता था। हारमोनियम और मृदंग की ध्वनियाँ घुल-मिल गई थीं। उन्हें अलग-अलग करके सुनना कठिन था। करीब आधे घंटे तक यही कीर्तन चलता रहा। मैं बैठे-बैठे झनझना उठा। उधर कीर्तनकारों का आनंद माथे पर हलके पसीने की बूँदों के रूप में छलछला उठा था। मैं पानी लाने के लिए उठ गया।

मैं ट्रे में पानी से भरे गिलास रख ही रहा था कि लता आयी और बगैर पूछे ट्रे उठाकर चलती बनी। मैं झुँझला उठा। थोड़ी देर बाद वह खाली गिलासों वाली ट्रे लेकर आयी। मैं तब तक वहीं खड़ा उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था।

—सॉरी भाई साहब! उसने धीरे से कहा और गिलास धोने लगी। मेरा गुस्सा उतर गया। लता बहुत भड़कीली ड्रेस पहने थी। मुझे लगा कि वह बच्ची नहीं रही। उसका वक्ष अच्छी तरह उभर आया था। मैं अनुमान लगाने लगा, उसने ब्रेसरी पहनी हुई है कि नहीं। मैंने पहली बार यह अनुभव किया कि वह बेहद खूबसूरत थी—इसके पहले अकसर उसे फ्रॉक में ही देखा था। इस समय चुस्त कुरते-पजामे में उसकी बदलती सीमाओं के निकट से दर्शन हुए। अच्छा लगा।

गिलासों से ट्रे भरकर मैं अन्दर ले गया। शिप्रा के बाप से मैंने शुरूआत की। उन्होंने पानी का गिलास उठाकर 'थैंक्स' कहा, मैं मानो धन्य हो गया। इस समय उनसे बातें कर पाना असम्भव-सा था। वरना मैं इन्हें थोड़ा-बहुत तो प्रभावित कर ही लेता। चुपचाप लोगों को पानी पिलाता रहा। सब निबट गए, तो ट्रे और गिलास रख आया और कीर्तन में आकर बैठ गया। मैं बाहर चला भी जाता, परन्तु मैं यह नहीं चाहता

था कि शिप्रा के बाप पर कोई गलत इम्प्रेशन पड़े उन्हीं की तरह भक्ति-भाव से पूरित-सा बैठा रहा। मैं उन्हीं के पास बैठा था। उनके बालों से कैंथरडाइन की खुशबू छूट रही थी। इसका मतलब था कि शिप्रा भी कैंथरडाइन ही लगाती होगी। मैंने तय किया कि दूसरे दिन कैंथरडाइन की एक शीशी मल्होत्रा स्टोर्स से खाते में ज़रूर लेकर आऊंगा।

पानी की फरमाइश फिर शुरू हो गई थी। आखिर गर्मी का मौसम था। अन्दर भी औरतें पानी माँग रही थीं। बाल्टी का पानी ख़त्म हो गया था। रात के दस बजे थे। नल चले गए थे। अब पानी की पूर्ति बाथरूम वाली हौदी से ही हो सकती थी।

मैं बाल्टी उठाकर बाथरूम की ओर बढ़ा। बाथरूम आँगन के दूसरे कोने में था। आँगन का बल्ब फ्यूज हो गया था। अँधेरे में बाथरूम जैसे खोया हुआ था। वहाँ भी लाइट नहीं थी। वहाँ का बल्ब निकालकर कहीं और लगा दिया गया था। अन्धेरे में बाल्टी लेकर, मैं अन्दर घुसा। कुछ तो मेरा अभ्यास था और कुछ हौदी में पानी के तल पर चमक, मुझे असुविधा न हुई। धीरे-धीरे खूँटियों पर लटके तौलिये और कपड़े भी दिखाई पड़ने लगे। जेब में एक सिगरेट पड़ी थी, माचिस भी थी। सोचा, खड़े-खड़े यहीं दो-चार कस लगा लिए जायें।

माचिस जेब से निकाल ही रहा था कि बाहर आँगन में लता की अवाज सुनायी दी। वह किसी बच्चे से पूछ रही थी—पानी भरने की हौदी कहाँ है? मैंने झट से सिगरेट और माचिस जेब में रख ली। दिल धड़कने लगा। वह शायद औरतों को पिलाने के लिए पानी लेने आ रही थी।

लता एक जग लेकर अन्दर आयी। मैं सोच रहा था, कहीं वह अन्धेरे से घबराकर वापस न चली जाए, परन्तु वह बड़े विश्वास से आगे बढ़ी। मेरी छायाकृति को देखते ही चौंकने की बजाय धीरे से उसने पूछा—कौन? भाई साहब? और मेरे 'हूँ' कहने के पहले ही वह पास आकर खड़ी हो गई।

मैंने बाल्टी धीरे से नीचे रख दी। मुझे लगा, हमेशा की तरह वह अन्धेरे में ही मुसकरा रही है। मैंने निःसंकोच उसे छूकर देखा। वह सीधी खड़ी रही। मैं उसे तो नहीं, परन्तु उसके अंग-अंग को महसूसने को उत्सुक था। मैंने सीधे उस ओर हाथ बढ़ाया। वह साँस रोके खड़ी रही। मैं मन-ही-मन खिल उठा।

हाय, सुन्दर लता! मैंने अपनी मुट्ठियों को अच्छी तरह भर लिया था। एक कौतूहल शांत करने के लिए, जो कई बरसों से मुझसे चिपका हुआ था। वह कँपकँपा उठी उसके मुँह से मीठी-सी आह निकली। वह दोहरी होने का प्रयत्न करने लगी। मेरी कनपटियाँ तमतमा आई थीं। मैंने उसके पूरे शरीर को भरकर जोर से भींच लिया।

उसके हाथ से जग छूटकर गिर पड़ा। हम घबराकर अलग हो गए, परन्तु कुछ ही छणों में सहजता फिर लौट आई, क्योंकि कीर्तन अनवरत चल रहा था। कंठ स्वर जैसे बँध चुके थे। मैंने उसे आलिंगन में लेकर चूम लिया। इस क्रिया में इतनी मादकता और सनसनी थी कि मैं उसका अनुमान लगाने में असमर्थ रहा। इसमें जो था, वह था। भरी बाल्टी लिए मैं लौटा। वहाँ, अन्दर महामन्त्र चल रहा था।

होरे रामो···होरे रामो···राम रामो···होरे होरे,
होरे कृष्णो···होरे कृष्णो···कृष्ण कृष्णो होरे···होरे!

बार-बार एक जैसा ही नहीं दोहराया जाता था। आरोह, अवरोह और समय के अन्तर से हर बार स्टाइल बदल जाती थी। चट्टोपाध्याय लम्बे चौड़े डील-डौल वाला मर्द था। औरतें कीर्तन के मामले में उसकी काफी तारीफें किया करती थीं। उसकी आवाज़ भी ऐसी ही थी···सौ-दो-सौ पर भारी हो सकने वाली। परन्तु पिताजी का स्वर सबसे बेसुरा था। जोश में गाते भी गला फाड़कर थे। शिप्रा का बाप भी वहाँ बैठा था। मुझे बड़ी लज्जा लग रही थी। मैं जानता था, अन्दर कई औरतें उनके बेसुरेपन पर हँस रही होंगी। मैं विवश था।

मुझसे एक भूल ही गई थी, जो बार-बार कचोट रही थी—लता को एक बार और वहीं मिलने के लिए बोल आना चाहिए था उसके स्पर्श ने मुझमें आनन्ददायक उत्तेजना भर दी थी। परन्तु मन नहीं भरा था। उठकर बाहर आया। पानी की बाल्टी अभी आधी से अधिक भरी हुई थी। समझ में नहीं आया, क्या किया जाये। कुछ खाली गिलास भर डाले। परन्तु फिर भी बाल्टी खाली नहीं हुई।

लता बाथरूम की तरफ जा रही थी। उसने एक छोटे लड़के की बाँह पकड़ रखी थी। शायद टट्टी कराने ले जा रही थी। बाथरूम की बगल में ही लैट्रिन थी। लता ने उसे अन्दर बिठाना चाहा, परन्तु वह तैयार न हुआ। अन्धेरे से डर रहा था। हारकर वह उसे बाहर दरवाजे के पास नाली पर बिठा आई। मैं बाथरूम की ओर बढ़ा। उसने दरवाजे पर खड़े-खड़े ही मुझसे पूछा—पानी काहे में ले जाऊँ?

मैंने उसे बाथरूम में रखे लोटे की ओर इशारा किया। हम दोनों ही जैसे लोटा उठाने को अन्दर बढ़े। अन्दर बड़ा सुख था, नर्माहट, गर्मी और गुदगुदे कसावों का। इस बार उसने कुछ ऐसी शैतानी की कि मैं बहुत बेचैन हो उठा। इतने में उस बच्चे ने बाहर नाली से ही आवाज दी—जिज्जी ऽऽ! और उसने एक बार लिपटकर मुझे चूमा और भाग गई।

बरामदे में खड़े होकर मैं उसे टट्टी धुलाते देखता रहा। और मन-ही-मन सोचता रहा कि उसके अंग अधिक सुडौल और अधिक मृदुल थे! वह झुककर एक हाथ से पानी गिरा रही थी और दूसरे हाथ से उस लड़के की टट्टी साफ कर रही थी। उसके छह-सात छोटे भाई-बहन थे और लगता था वह ऐसी बातों की अभ्यस्त थी। झुकने के कारण उसके कुछ अंग मेरे सामने स्पष्ट थे। लड़का खड़ा हो गया था। धुलाई हो चुकी थी। लता ने फिर हाथ गीला किया और उसके आगे के अंग पर फिराया, मुझे उसकी यह हरकत कुछ अश्लील प्रतीत हुई।

मैंने देखा शिप्रा के बाप जा रहे थे। बाहर निकलकर उन्होंने जूते

पहने और एक बार फिर कीर्तन की ओर माथा झुकाकर प्रणाम किया। मैं बढ़कर उनके सामने आ गया।

—अच्छा, चलता हूँ! कहकर वह चल दिए। मैं उन्हें छोड़ने दरवाज़े तक गया।

इस बार मैं जोश-खरोश से जाकर बैठा। कीर्तन में मेरा मन रमने लगा था। मैं और लता भी तो बाथरूम में कीर्तन ही कर रहे थे। मैंने मन में सोचा और इस कल्पना पर खुश हुआ। बड़े अच्छे स्तर पर महामंत्र चल रहा था। चट्टोपाध्याय ने दत्ता से हारमोनियम ले लिया था और झूमकर गा रहा था। लग रहा था, सब आनंदविभोर हुए जा रहे हैं।

सहसा एकदम-से रंग बदल गया। चट्टोपाध्याय भावावेश में गाते हुए हिचकियाँ लेने लगा था। वह लीड कर रहा था, अतः अन्य लोग भी दोहराते समय अलग-अलग ढंग से, जगह-जगह हिचकियाँ लेते थे। हिचकियाँ मिलजुलकर कीर्तन को एक नयापन दे रही थीं, परन्तु इसमें कृत्रिमता का पुट था। चट्टोपाध्याय बुरी तरह उभर आया था। गांगुली दादा का चेहरा सफेद लग रहा था, उनके नेत्र बन्द थे। पिताजी हिचकियाँ ठीक से ले नहीं पा रहे थे। गला उनका भी रुँधने लगा था। मैं बहुत पीछे छूट गया था। उनसे तादात्म्य बनाए रखने में अपने-आपको असमर्थ पा रहा था। और भी कई लोग पीछे टूट गये थे। कीर्तन बराबर हिचकियों के साथ चलता रहा।

होरे रामो·········होरे रामो
राम-ओ राम-ओ···होरे होरे!

हिचकियाँ लेते-लेते कुछ लोग रोने भी लगे थे। गांगुली दादा और पिताजी के नयन-कोरों से आँसू बहने लगे थे। चट्टोपाध्याय लय में था, परन्तु आंखें नम थीं। दो-तीन आदमी फूट ही पड़े। रोते-रोते कीर्तन करने लगे। बाकी ऐसा भाव दिखा रहे थे, मानो छाती पर पत्थर रख कर अपने को सँभाले हुए हों। औरतों की तरफ सन्नाटा था। मर्दों के

इस तरह भक्ति-विह्वल होकर रोने की उन पर इतनी ही प्रतिक्रिया हुई थी।

सहसा मुझे लगा कि लता उठकर बाहर गई है।

लता का शरीर मेरे लिये उस क्षण का सत्य था। शिप्रा के आकर्षण में आवारा-से फिरते हुए शायद मैं अपने शरीर से कुछ दूर हो गया था। लता मुझे वापस ले आई। परकीय स्पर्श इतना प्रिय और जगा देने वाला था कि मुझे पहली बार महसूस हुआ कि मैं एक आदमी हूं... एक भरपूर आदमी !

अपने को रोकने की क्रिया भी चल रही थी, इसलिए सारे वदन का जोर ओठों तक आकर रह गया था। हमारे होंठ बार-बार दबाव में आते। किसी चरमोन्मेष तक पहुँचने की कोशिश में...और वह स्थिति अभी दूर थी। नैसर्गिक चिकनाहट और अवयवों की कोमलता ने मुझे मुग्ध कर दिया था। इसके पीछे उस प्रबल लय का भी हाथ था, जो हमें घेरे हुई थी। एकाएक मैंने अनुभव किया कि लता अपनी उत्सुकता के एकमात्र केन्द्रबिंदु पर सकुचाते हुए पहुँचकर रह जाती थी। उसकी इस प्यारी उत्सुकता को शांत करने का प्रयास करते समय मैं उदार होता जा रहा था। जैसे कोई सर्वस्व समर्पित करता है, मैंने अपने को समर्पित करते, उसकी उँगलियों में और भी थरथराहट महसूस की।

वह कह रही थी—यहाँ नहीं ! कोई और जगह मिलने का वादा करिए, जहाँ आराम से...यहाँ बस...

मैंने सोचने की कोशिश की। कोई जगह समझ में नहीं आई मैंने उससे कहा—कल शाम को स्पोर्ट्‌स ग्राउंड के पैवेलियन में मिलें! वहीं बैठकर सोचेंगे।

—कितने बजे ? उसने पूछा।

मेरे मुँह से निकला—साढ़े छह बजे। परन्तु दूसरे ही क्षण मुझे शिप्रा की याद हो आई। अपने पवित्र प्यार की, मैंने झट से समय संबंधी संशोधन प्रस्तुत किया—साढ़े सात बजे। तब तक अन्धेरा भी हो आता

है। मौका लगा, तो हम वहीं...कहते समय मैं निश्चित रूप से आवेश में था।

कीर्तन के स्वर वैसे ही आ रहे थे, जैसे आरा मशीन लगातार चलती रहे। बड़ी खरखराहट से भरे स्वर थे। पिताजी की मोटी और उन्मादित आवाज़ कानों में सनसनाहट-सी पैदा करती थी।

वह बेवकूफ लड़की फुसफुसायी—हाय, कोई देख न ले यहाँ !

महामंत्र-आलाप का एक लम्बा दौर समाप्त हो गया था। वे लोग पसीने से नहाये हुए थे। तन्मयता का यह श्रम उन्हें प्रिय था। वे धोतियों के सिरों से पसीना पोंछते हुए मुख्य कीर्तनकर्ताओं को प्रशंसात्मक दृष्टि से देखते रहे। निश्चित था, कुछ संतुष्टि उन्हें प्राप्त हुई थी। अभी कीर्तन को और भी चलना था, इसलिए पल-भर पसीना पोंछने के बहाने वे विश्राम कर रहे थे। पिताजी घुटनों के बल उठंग होकर दीपक में देशी घी डाल रहे थे। फिर उन्होंने नयी अगरबत्तियाँ सुलगा दीं। अब वह भी निश्चितता से पसीना पोंछ सकते थे। परन्तु आयोजक जो ठहरे। ज़ोर से चीखकर दो-तीन नाम एक साथ लेकर उन्होंने हम लोगों को पुकारा। पानी लाने को कहा। सब प्यासे थे। हालाँकि प्यास का स्तर अब भिन्न होता जा रहा था।

मिश्री की डलियों और सौंफ-इलायचियों वाली तश्तरी घूम रही थी। अब इस दौर में गांगुली दादा को सूत्रधार बनना था। चैतन्य महाप्रभु की तरह कीर्तन करते-करते उन्मत्त हो उठना होगा। वैसे कौन, कब और कैसे उस समय नाच उठेगा, यह अभी से अनुमान करना मुश्किल था।

हारमोनियम से सुर उठने शुरू हुए। हवा रुक गयी थी। अगरबत्तियों का धुआँ कुछ ऊपर ठहरकर जमा होता जा रहा था…एक गुबार की शक्ल में। मेरा जी किया, टेबल फैन को उसी ओर मोड़ दूँ। परन्तु टेबिल फैन बंगालियों की गरम पीठों को सहला रहा था। चट्टोपाध्याय ने नसवार की चुटकी ली। दीवार के पास बैठे तिवारीजी खैनी

की पीक थूकने के लिए धीरे-से उठकर बाहर चले गये। गुप्ताजी जैसे मुग्ध होकर टेबल पर सजाये गये भगवान् के चित्रों को निहार रहे थे।

मैं जानबूझकर दोनों कमरों के बीच वाले दरवाजे के पास बैठा था। दूसरे कमरे में औरतें थीं। बच्चे सब सो चुके थे, दरवाजे पर एक परदा अधूरा होकर लटक रहा था। मैं पिछले सब कीर्तनों में देखता रहा था कि कुछ लोग खासतौर पर इस दरवाजे के हिसाब से बैठते हैं। जब कीर्तन में नृत्य होने लगता था, तो वह भी इस दरवाजे को ध्यान में रखकर होता था। कुछ औरतें भी आगे सरक आती थीं। और ये औरतें नियमित रूप से कीर्तनों में आती थीं।

लता को जाने क्या सूझा, उठकर वह भी दरवाजे के पास बैठ गयी··· मेरे ठीक सामने। मैं अब बिना तिरछी निगाह किये भी उसे सुविधा से देख सकता था। वह ऐसे बैठी थी, सिर्फ मुझे ही देख सकती थी। बाकी सबको परदे ने अपने अधूरेपन में ढक लिया था। लता अर्थभरी निगाहों से मुझे देख रही थी। उसकी दृष्टि में एक खुलापन था। कीर्तन बहुत सावधानी और सौम्यता से चलाया जा रहा था। कंठ रेशमी हो उठे थे। गांगुली दादा झटका ले-लेकर गाते थे। वैसे ही सम्मिलित पुनरावृत्ति होती थी।

'होरे रामो' के बाद एक ब्रेक होता था, जैसे हिचकी। फिर दीर्घ 'हो' के साथ प्रबल, उत्तुंग स्वर में 'होर...ए...रामो...' निकलता था। पिताजी के भारी गले से 'रामो' का 'मो' इतने फोर्स से निकलता था कि अल्पकालीन विराम भर में वह 'मो' ही झंकृत होता था। दूसरा पद भी इसी क्रम में से चलता था। अच्छा-खासा टाइमिंग दिया जा रहा था...पहले दौर वाले समय का लगभग दो गुना लग रहा था, लंबे सफर की कोई गाड़ी रात के अँधेरे में एक चाल से धड़धड़ाती चली जा रही हो।

उधर दीवार के पीछे लगी लता आँखों से इशारा कर रही थी। जाहिर था, उसे वह 'कीर्तन' पसंद आ गया था, जो बाथरूम के अन्दर हुआ था। जो भी हो, उसका जी किसी और तरफ नहीं लग पा रहा था। मुझे शक हुआ, वह मुझे किसी बात के लिए उत्तेजित कर रही थी। शायद इसलिए कि वह स्वयं भी काफी उत्तेजित थी। मैंने उस ओर से ध्यान हटाने के लिए कीर्तन की ओर रुख किया लेकिन वह मुझे प्रभावित न कर सका।

मेरी दृष्टि कमला चाची पर ठहर गयी। यह अनजाने में नहीं हुआ। यह हमारी चाची तो नहीं थीं, परन्तु घरेलू सामीप्य था। उनमें कई विशेषताएँ भी थीं। जो व्यक्तित्व को अलग कर देती हैं। वह निःसंतान थीं। काफी माँसल। रंग सलोना। लता के प्रसंग ने मुझे इतना उन्मुक्त कर दिया था कि मैं कमला चाची के अंगों के बारे में अपने से लड़े बिना ही सोचने लगा था। सोचता तो काफी समय से आया था। परन्तु आज कुछ नयापन-सा लग रहा था। सारी कालोनी में इतने अधिक कसे हुए अंग किसी भी औरत के नहीं थे। बाद में मुझे मालूम हुआ, उनके बारे में सब यही सोचते हैं।

कमला चाची के यहाँ जब भी मैं गया, मैंने अलगनी या खूंटी पर लटकती ब्रेसरियाँ जरूर देखीं। अकसर आँगन में ही कपड़े सुखाने की रस्सी पर एक आध लटकी रहती। मैं बड़े लालच से उनकी ब्रेसरियाँ देखा करता। मुझे लगता था, कमला चाची की ब्रा काफी बड़ी होगी। औरों के मुकाबले कम-से-कम ड्योढ़ी। वह प्रसन्न मुद्रा में बैठी थीं। उनका चेहरा हमेशा की तरह ताजगी से भरा था। आँखें लता की तरह ही बड़ी-बड़ी थीं, परन्तु अधिक गहरी और कजरारी। वह हर कीर्तन में जातीं। लोग सोचा करते थे, संतान की अभिलाषा इन्हें खींच लाती है। मेरा विचार जाने क्यों इतना गंदा या उनके बारे में। वह शायद धोती उठाकर नाचते मर्दों को बहुत शौक से नहीं देखा करती हों, परंतु मुझे ऐसा भ्रम था। दरअसल उनका चेहरा ही ऐसा था। उभरे कपोल

और हमेशा छायी रहने वाली मुसकान। वह इस समय भी किसी को देख रही थीं।

सहसा मुझे लगा, कमला चाची की आँखें मेरे चेहरे पर फिसल रही हैं। दुस्साहस करके मैंने उनकी आँखों में देखा। घबरा उठा था। मेरा वहम था। उनकी आँखें लता से भी अधिक उत्तेजक ढंग से पेश आ रही थीं। लता धूमिल हो उठी। मन में इतनी बुराई भरने लगी कि क्या कहूँ, यह तो अच्छा हुआ, उसी पल कीर्तन झटका खाकर तीव्र हो उठा।

एक्सिलेरेटर पर पाँव का दबाव एकदम बढ़ उठा था। इसका तुरन्त असर हुआ। आलाप में मादकता घुलने लगी। अब वहाँ बैठे लोगों के लिए उत्तेजित होने के सिवा कोई चारा नहीं था। गांगुली दादा किसी रहस्योद्घाटन की ओर बढ़ रहे थे। सब उनके साथ हो गये। चिर-प्रतीक्षित कोई रहस्य खुलने जा रहा था। रोमांच होने लगा। कुछ लोग ताल मिलाने में मगन हो गये और कुछ रह-रहकर उचकने लगे थे। पिताजी उचक भी रहे थे, साथ ही ताली भी ज़ोर से बजा रहे थे।

माँ ने मुझे बुलवाया, कहा—देखना, तेरे पिताजी कहीं गिर-विर न जायें! कुछ खाया-पिया तो है नहीं...! मैं सहमति में सिर हिला कर चला तो आया, परन्तु समझ नहीं पा रहा था कि इसमें मैं क्या कर सकता था! मैं तो एक दर्शक मात्र होकर रह गया था। करना तो चाहता था...लता के साथ...कमला चाची के साथ। परन्तु क्या कर पाया था? मैंने मजबूर होकर लता का सहारा लेना चाहा। पर लता भी थक गयी थी। और कमला चाची की मादकता, घातक जान पड़ती थी। मैंने लता पर ही आँखों का जोर लगाया।

—कल! जैसे उसने निढाल होकर कहा।

मेरे लिए 'कल' बहुत दूर थी। तब तक कुछ करने की ताकत बचेगी भी, या नहीं, मैं नहीं कह सकता था।

इसी बीच मृदंग मेरे उपर छाने लगा। मेरी खुद की थकान इसकी

वजह बन गयी थी। मैं क्या करता! दिमाग में नसें सुरसुराने लगीं। स्वर तीव्र होकर कमरे में बुरी तरह भर रहे थे। आवाज़ का नशा था। हक एक को दूसरे की आवाज़ का नशा चाटे जा रहा था। और जब कोई नंगे बदन को चाटने लगता है, तो कैसी सुरसुरी उठती है! खून के साथ मजाक होने लगता है।

लम्बी भुजाएँ कमलनाल की तरह फैल रही थीं। मैंने पिताजी की ओर चोर निगाह से देखा। उनकी भी आँखें बन्द थीं। परन्तु वह बेसुध नहीं लग रहे थे। उनकी तन्मयता जिस लय के अधीन थी, वह उनके तन को सर्प की तरह चला रही थी। वह लहर में थे। बदन लहराता था। सरौते की तरह चल रहे जबड़ों की हड्डियाँ उभरकर रह जाती थीं। शब्दों को चबा-चबाकर ब्रेक दिये जा रहे थे, फिर भी लय थमने न पाती थी। ब्रेक लगाने से उसका प्रभाव कई गुना बढ़ जाता था।

चट्टोपाध्याय स्टेयरिंग सँभाले था। उसकी दशा सबसे अच्छी कही जा सकती थी। जाने कैसे दोनों कमरों को अलग करने वाला परदा हट गया था। इतनी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी से लदा चट्टोपाध्याय बार-बार आँख खोलकर मिसेज गांगुली को देख लेता था। वह बिल्कुल आगे बैठी थीं। इस समय उनकी नज़र मुक्त भाव से चट्टोपाध्याय के गठे हुए जिस्म पर ठहरी हुई थी। मैं गौर से थिरकते और लहराते बदन देखता रहा। यदि मैं चाहता, तो बाहर भाग सकता था। इशारा कर के लता को एक बार और बाथरूम में बुला सकता था। बाहर जाकर जेब में पड़ी सिगरेट के कश लगा सकता था। परन्तु मैं जैसे किसी सम्मोहन में बँध गया था। मुझे दो ही चीजें उस समय खींच रही थीं, जिनके प्रभाव में कीला हुआ मैं वहाँ जमा था। एक तो कीर्तन की गति और दूसरे कमला चाची की छातियाँ। दोनों में से मैं पूरी तरह किसी एक तक नहीं पहुँच पा रहा था। कीर्तन में मैं लाख डूब जाता, मस्त होकर नाच उठने की स्थिति नहीं आ सकती थी।

मुझे जाने क्यों ऐसा विश्वास था कि मेरी उपस्थिति के कारण

पिताजी कुछ-न-कुछ सजग अवश्य बने रहेंगे। अभी तक जितने भी कीर्तन हुए थे, किसी में भी मैं पूरे समय तक नहीं बैठा था। आज तो करीब-करीब शुरू से आखिर तक बैठा था, ठीक उनके सामने।

गांगुली दादा अभी नाच नहीं रहे थे। खड़े थे, और हाथों से अभिव्यक्तियां दे रहे थे। मैं खुश था। पिताजी शायद इस कीर्तन में नहीं नाचने वाले थे। साढ़े ग्यारह बज चुके थे। पिताजी का नाचना हमारे लिए संकट का विषय बन जाता था। वह वास्तव में नाचने के अभ्यस्त तो थे नहीं। जोर-शोर से, धोती थामे बिना, फर्श पर उल्टा-सीधा कूदते थे। सिर धुनते और बाल तक नोच डालते थे। अधिकतर लोग ऐसे समय दर्शक बनकर मजा लेते थे। औरतें मुँह छुपाकर हँसती थीं। आँखें मटकाती थीं। कुछ बड़े लड़के अगर कीर्तन में होते, तो इस भद्दे-पन पर गंदी इशारेबाजी भी करने लगते थे। मेरे मन में क्रोध, रोष और क्षोभ मिल-जुलकर उभरने लगते थे। अन्दर की बदहवासी को मैं आस्थाहीन धार्मिकता के बोझ से दबकर छुपाता आया था। ऐसा लगता कि इस आदमी का बेटा होना और शिप्रा जैसी लड़की से प्रेम करना सिर्फ बदनसीबी है। अभिशाप है। ऐसे में चंद निगाहें ऐसी थीं, जो हमें सहारा देती थीं। फूफाजी, चाचा और मिसेज गांगुली। किसी हद तक कमला चाची भी, इन लोगों की आँखों में पिताजी के उस शुभकर्म के प्रति आदर का स्थायी भाव होता था। ये सब पिताजी की भक्ति-विह्वलता को आदर्श मानते नज़र आते थे।

नाचते गांगुली दादा भी थे, परन्तु उनके पास यह कौशल था, संयम था और यथोचित रूप भी। वह सुन्दर थे। उनका नृत्यमय हो उठना सौन्दर्यबोध कराता था। उनका स्वर मधुर था। पैर हलके थे। पिताजी का इन बातों से कोई मेल न पड़ता था, परन्तु वह जमकर आखिर तक नाचते दे। अन्त में पसीना-पसीना हो जाते, या अचेत होकर गिर पड़ते।

चट्टोपाध्याय के कंठस्वर ने स्थिरता और नियन्त्रण की क्षमता एक

साथ ही खो दी। अब तो उसका पुलक भरा स्वर नेतृत्व कर रहा था। 'रामो' और 'कृष्णो' के आर्त्तनाद कई सत्संगी बंधुओं की नयन-कोरों से अश्रु बहाते हुए द्रावक हुए जा रहे थे। मेरे सिवा सब पुलकित थे। धन्य हो रहे थे।

पिताजी खड़े हो गये थे। वह दायें-बायें हिल-हिलकर फुदक रहे थे। अब ताल-बेताल कुछ शेष नहीं था। कुछ और लोग भी फुदकने लगे थे। मेरा ध्यान और लोगों की तरफ गया। पिताजी की धोती की लाँग खुल चुकी थी। वह अस्त-व्यस्त हो चुके थे। जो भी हो, यह दृश्य प्रभावशाली कतई नहीं था, बल्कि हास्यास्पद ही था। कुछ लोग इसके बाद होश में आ गये थे। वे समझ गये थे कि इस खेल में धोती खुल सकती है।

औरतों वाले कमरे में झाँकने की मेरी हिम्मत न हुई, परन्तु उधर से हँसने की मंद ध्वनियाँ आ रही थीं, शायद माँ को छोड़कर सब औरतें हँस रही हों। पिताजी मोर की तरह नाचने लगे। फिर उदर को गोल-मोल घुमाने लगे। यह बड़ी वाहियात हरकत थी। निश्चित था कि इसमें चूतड़ मटकते। देखने वालों को ज़रूर मजा आ रहा था। मैं लज्जा से गड़ा जा रहा था। मान-मर्यादा को लात मारकर मीरा भी नाची थी, परन्तु वह मीरा थी। पिताजी के इस कर्म से मेरा खून पानी होता जा रहा था। मैं मूढ़ हो उठा था। बेवकूफों की तरह आँख फाड़कर देखने-समझने का प्रयत्न कर रहा था, जैसे कोई समझ में न आने वाले स्तर की बात हो। परन्तु यह तो हमारी भावनाओं से बलात्कार होने का दृश्य था। मुझे लग रहा था, कोई मेरे सामने ही शिप्रा के साथ बलात्कार कर रहा था...उठकर भागने की इच्छा भी मर गयी थी। अपनी आँखों अपने बाप को पागल होते देख रहा था। मेरी इन तीव्र प्रतिक्रियाओं के पीछे शायद माँ की पीड़ा छुपी थी। उस महिला के गौरव को बहुत ठेस पहुँची थी। वह बेचारी मुझसे कहीं अधिक मजबूर थीं, इसीलिए जब भी मौका मिलता, पिताजी को खरी-खोटी सुना देती थीं।

कीर्तन कब समाप्त हो गया, मुझे मालूम ही न पड़ा। सिर्फ एक नृत्य-भाव रह गया। पिताजी और गांगुली दादा नाच रहे थे। किसी और ताल पर। कुछ अनोखे भाव उनके चेहरों पर थे। वे पहले से कहीं अधिक मुक्त प्रतीत हो रहे थे। अब महामंत्र के स्थान पर 'निताई! गौरांगो!' सुनायी पड़ता था, या ऐसा ही कुछ। दोनों में एक निताई था, दूसरा गौरांगो। कौन क्या था, इस प्रश्न की सीमा से परे, वे आसानी से यह बन गये थे। न तो उन्हें चेहरे ओढ़ने पड़े थे, न आवाजें बदली थीं। उन लोगों का भक्ति-विभोर होने के बहाने अपने परिवेश से कट जाना लोगों को भले ही न अखर रहा हो, परन्तु मेरा जी कर रहा था, कोई सीन क्रिएट कर डालूँ। अपने बाप से अपने को काटकर अलग कर लूँ और उसके अन्य बच्चों को यहाँ बुलाकर पूछूँ—क्यों बे? पहचानते हो अपने बाप को? बताओ, कौन-सा है?

मुझे मिसेज गांगुली का ध्यान आया वह बड़ी प्यासी नज़र आ रही थीं। चट्टोपाध्याय के माँसल पुट्ठों का कीर्तन उन्हें धँसा रहा था। उनके पतिदेव नाच रहे थे, या जहन्नुम में जा रहे थे, इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं दिखता था। चट्टोपाध्याय की आँखें मुझे लाल-लाल-सी लगीं। उन्मत्त की तरह। इस आदमी के मुँह ज़रूर खून लग चुका था।

पिताजी नाचते-नाचते बाहें फैलाकर गांगुली दादा की ओर बढ़े। गांगुली कुछ दूर पहुँच चुके थे, परन्तु उन्होंने भी बाहें फैला दीं। यह एक चरम परिस्थिति थी। उस कीर्तन की, जो पिछले तीन घंटों से हो रहा था। सब सराहना के भाव से इस मर्मस्पर्शी दृश्य को देख रहे थे। लगता था, अभी-अभी निताई और गौरांग, दोनों पात्र एक-दूसरे में समा जायेंगे। सुखांत नाटक की तरह।

सहसा अधबीच में ही पिताजी लड़खड़ाकर गिर पड़े। शीशे की तरह गिरकर कीर्तन टूट गया, जैसे वही इसके सूत्राधार थे। सब सन्न रह गये। कोहराम मच गया। हम लोग दौड़े। फूफाजी ने उनका सिर अपनी गोद में रख लिया और अखबार से पंखा झलने लगे। मुझसे

बोले—दौड़कर पानी लाओ, देख क्या रहे हो ! मैं लपककर गया और पानी का गिलास भरकर ले आया। पिताजी सीधे पड़े थे...लंबे-के-लंबे। जनेऊ ढीला होकर लटक रहा था। मैंने गिलास फूफाजी को पकड़ा दिया। गिलास पकड़ाने के बाद मुझे लगा, मैं चीखना चाहता था। मैं सबको गालियाँ देने पर उतारू हो रहा था। यह सब, लंबा नाटक, मुझे अच्छी-खासी हरामजदगी महसूस हो रहा था। परन्तु मैं कुछ भी नहीं कर पाया।

अँगोछे से पिताजी का चेहरा पोंछने नीचे झुका, तो देखा, उनका मुख लाल हो रहा था। साँस धौंकनी की तरह चल रही थी। परंतु पीड़ा या यातना का कोई भाव उनके मुख पर नहीं था, बल्कि एक भोलेपन की सहज मुद्रा चिपकी हुई थी। मैंने पसीना पोंछने के पहले छूकर देखा, उनका बदन गर्म था। मुझे उनके अचेत पड़े शरीर से देसी घी, पसीने और अगरबत्तियों की मिली-जुली खुशबू आती महसूस हुई। धीरे से पिताजी ने आँखें खोलीं। सामने मुझे देखा। प्यार से मेरा नाम लिया। मेरा हाथ पकड़कर अपनी छाती पर दबा लिया और रोने लगे।

उनकी लगभग दयनीय अवस्था और विवशता पर मैं कातर होता जा रहा था। पत्थर बना बैठा रहा। फूफाजी बराबर—भाई साहब ! भाई साहब ! कहते हुए उनकी पीठ पर हाथ फेर रहे थे। मुझे लगा, वह मेरी भी पीठ सहला रहे हैं, कुछ देर बाद पिताजी उठ बैठे। वह तनिक भी लज्जित नहीं थे। उलटे उनके चेहरे पर परम तृप्ति थी। वह फिर व्यस्त हो उठे। आसन पर बैठकर उन्होंने अगरबत्तियों के पैकेट से कुछ अगरबत्तियाँ निकालीं और जलाने लगे। हाथ से झपककर उन्होंने बत्तियों की लौ को शांत किया। अगरबत्तियाँ खुशबूदार धुआँ बिखेरने लगीं। आरती होनी थी। उन्होंने मुझसे कपूर ले आने को कहा। मैं कपूर लाने अंदर गया, तो देखा, माँ ज़रा भी घबरायी हुई नहीं थीं। वह कमला चाची से बातें कर रही थीं। मुझे अच्छा लगा। लता दीवार से टिककर सो गयी थी। उसकी माँ उसे हिलाकर आरती के लिए जगाने

लगी। उसके जागने के पहले ही मैं पिताजी के पास पहुँच गया।

लोग प्रसाद ले-लेकर चले गये। मुझे लेटने की इच्छा हो रही थी। बाहर चारपाई पर जाकर पड़ गया। उधर लता बिना मिले चली गयी थी। कल के प्रोग्राम के बारे में उससे कन्फर्म नहीं कर पाया था। उसके साथ कीर्तन तो ज़ोरदार हो गया था, परंतु प्रसाद अभी बाकी ही था।

कमला चाची रुकी हुई थीं। उन्हें खाना हमारे यहाँ ही खाना था। रात में जाकर कहाँ पकातीं। अंदर किचेन में स्टोव भरभरा रहा था। माँ, पिताजी और कमला चाची खाना खा रहे थे। बच्चे सब सोये पड़े थे। सोचा, मैं भी अंदर से विस्तरा उठा लाऊँ, परंतु अलसाया हुआ ऐसे ही पड़ा रहा।

माँ ने अंदर से आवाज़ दी—कमला चाची को छोड़ने जाना होगा। मैं उठा। अंदर से टार्च लेकर आया। आँगन में खड़े सब लोग बातें कर रहे थे। कमला चाची अपने घर पर कीर्तन करवाने के लिए पिताजी से कह रही थीं। मुझे याद आया, उनके पति की नाइट शिफ्ट है, नहीं तो कम-से-कम लेने के लिए तो आते ही। उन्हें कीर्तन वगैरह में कोई दिलचस्पी नहीं। कमला चाची ही संतान-प्राप्ति के चक्कर में पूजा-पाठ करतीं और कीर्तन करवाती हैं। वह अपने अकेलेपन के बारे में बताती रहीं। कालोनी में पिछले दिनों हुई चोरियों के बारे में भी चर्चा चली। वह सहमी-सहमी लगने लगीं।

पिताजी ने मुझे रात में उनके यहाँ ही सोने का आदेश दिया। कई बार ऐसा हो चुका था। माँ ने हमेशा की तरह टालना चाहा, परंतु वह कुछ कह न सकीं। मैं नाइट सूट ढूंढ़ने अंदर चला गया। जाने क्यों। मुझे लता की याद आने लगी थी, शायद इसीलिए 'कुछ नयापन अनुभव हो रहा था...सोने के लिए उनके यहाँ जाते हुए। मुझे चाची का आँगन याद आ रहा था। हमेशा सूखने के लिए लटके हुए ब्रेसरी-ब्लाउज...

रात खासी चाँदनी थी। रास्ते भर मैं खामोश था। चाची भी चुप थीं। उसी खामोशी के साथ चाची ने मेरा बिस्तर लगाया...हमेशा से कुछ ज्यादा साफ। चाची का बिस्तर बरामदे में था और मेरा कुछ नीचे आँगन में। आँगन चहारदीवारी से घिरा हुआ था।

चारपाई पर लेटते हुए मुझे महसूस हुआ कि घर मसालेदार गंध से भरा हुआ है। उन दिनों आम का अचार पड़ने के दिन थे। चाची के यहाँ तो एक-एक चीज़ के कई-कई तरीके से अचार डाले जाते थे। दरी-चादर भी उसी गंध से महक रहे थे। फिर सोचा, चाची का बदन भी ऐसे ही महकता होगा। पर बात ऐसी नहीं थी। उनके साथ चलते हुए मैंने पसीने की पकी गंध महसूस की थी। नज़र सामने टँगी रस्सी पर पड़ी। सचमुच एक ब्रेसरी उस समय भी वहाँ लटकी हुई थी। मुझे लगा, इस दिन बदली जाने वाली यह चौथी और आखिरी ब्रेसरी होगी।

कमला चाची गुमसुम थीं। शायद थक गयी हैं। मैंने सोचा। उनकी तरफ करवट लेकर देखा। वह एक घुटना मोड़े लेटी थीं। शायद उन्होंने जान लिया कि मैं उनकी तरफ देख रहा हूँ। मेरी ओर करवट लेकर बोलीं—क्यों, सोये नहीं ?

—नींद नहीं आ रही।

—आनी भी नहीं चाहिए। हलका-सा हँसी, फिर बोलीं—आज तुम्हारे यहाँ खूब जमकर कीर्तन हुआ !

—आप कब करवायेंगी ?

—अरे, यहाँ है कौन करने वाला ! तुम्हारे चाचा तो नाइट ड्यूटी पर रहते हैं ! फिर वह हँस दीं। पहले तो मैं चुप रहा, फिर एकाएक हँस दिया। वह सहसा बोल उठीं—तुम अभी बहुत छोटे हो...तुम्हारे पिताजी जैसा आदमी मिलना मुश्किल है...अवतार हैं, अवतार !

मेरी संपूर्ण चेतना भड़क उठी। पसीने से तरबतर और गंधाती हुई पिताजी की अचेत देह की याद करके मैं सिहर उठा। सहसा पिताजी दानव की भाँति विशाल होकर खड़े हो गये थे। उस आँगन की चहार-

दीवारी आड़ बनने में असमर्थ हो उठी।

मैंने चाची का चक्कर छोड़कर लता के बारे में सोचना शुरू कर दिया। वह टिक नहीं पायी। शिप्रा के बारे में सोचना भी पाप लगा। चाची अपनी ही रौ में कहे जा रही थीं—तुमने देखा, कीर्तन करते-करते वह कैसे मगन हो उठते हैं! अपनी कुछ भी तो सुध-बुध नहीं रहती उन्हें! हम लोग क्या हैं, उनके सामने!

फिर पिताजी! मैंने करवट बदलनी चाही, लेकिन यह उतना आसान नहीं था। वह फिर बोलीं—कीर्तन में आनंद बहुत आता है। फिर कुछ रुककर उन्होंने पूछा—और तुम्हें?

—मुझे कीर्तन कौन करने देता है!

—क्यों? हमारे यहाँ करो! वह कहती-कहती उठकर मेरी चारपाई पर आ बैठीं। पसीने की तीसरी किस्म, पकेपन से भरी-भरी, मेरे चारों ओर छा गयी। मैं फिर कीर्तन की लपेट में आ गया।

शत्रु

अच्छा-खासा सीन था वहाँ। पलँग को चारों ओर से घेरकर लोग बैठे थे। सभी तात्कालिक परिचर्या में जुटे हुए थे। उसे तेज बुखार था। एक घरेलू-नुस्खे के अनुसार उसके हाथ-पाँव कसकर मले जा रहे थे—ताकि बुखार नीचे आ जाये। मुझे यह दृश्य बहुत हल्का प्रतीत हुआ। भला ये भी कोई बात हुई—ऐसे कहीं बुखार उतरा करता है! परन्तु इस बार कुछ कह नहीं सका।

एक तो मैं यूँ ही दूर बैठा था। दूसरे, वह कुछ कहेगी—इसकी उम्मीद मुझे बिल्कुल नहीं थी। साफ था कि रोमैंटिक किस्म की मिजाज-पुर्सी का स्कोप नहीं बनता था। लोग बेतरह उसे घेरे हुए थे। मैं खुद अपने शक्की मिजाज की वजह से घिरा हुआ सा था। फिर भी स्पोर्ट्‌स मैन-स्प्रिट से कम लेकर मैंने उसकी तबियत के बारे में औपचारिक प्रश्न किये। मेरे प्रश्नों को महत्त्व दिया गया। ज़ाहिर था कि मैं जहीन किस्म के सवाल कर रहा था।

—'सुबह के वक्त बुखार रहता है?'

—'नहीं, सुबह सौ से थोड़ा ही ज़्यादा था। दोपहर से एक सौ दो, एक सौ तीन ऐसे चल रहा है।'

—'अभी कितना है?'

—'अभी तो नहीं लिया, थोड़ी देर पहले लिया था। एक सौ तीन प्वाइंट चार था—तभी हम लोग हाथ-पाँव मल रहे हैं। लगता है, कुछ

कम हुआ है।'

—'बदन में दर्द रहता है?'

—'नहीं, कहती तो नहीं है। कमर में दर्द बता रही थीं।'

—'हूँ...। खाने को कुछ दे रहे हैं?'

—'कुछ लें तब न। कहती हैं—कांस्टीपेशन है। इसके मारे चाय तक लेना बन्द कर दिया है।'

—'नहीं, यह ठीक नहीं है। खाली पेट रहने से कांस्टीपेशन थोड़े ही ठीक हो जायेगा—उल्टे वीकनेस बढ़ेगी। आप इन्हें दूध वगैरह दीजिये।'

डॉक्टर बनने जैसा मेरा अभिनय अच्छा रहा था। सब लोग मेरे चेहरे पर देख रहे थे। लगता था, आस-पड़ोस का कोई भी अभी तक मिजाजपुरसी के लिए नहीं आया था। मेरे कमरे में घुसने से पहले ही बच्चों ने दौड़कर बता दिया था—'प्रदीप भाई साहब आये हैं।' इस बात को गंभीरता से लिया गया था। पलँग का सिरहाना दरवाज़े की तरफ था। मेरे प्रवेश करते ही सुषमा ने आँखें ऊपर को ढुलकाकर मुझे देखा।

उसे लिहाफ उढ़ाया गया था। तकिये पर रखे उसके सिर से सिर्फ़ यह मालूम होता था कि वह कुछ कमज़ोर हो गई है। बुखार में लोगों के चेहरे जैसे तपते रहते हैं, वैसा कुछ नहीं था। चेहरा सुस्त और पीला नज़र आ रहा था। वह बीमार तो थी ही, मेरे प्रति विरक्त भी थी। उसने एक बार भी, फिर से मेरी ओर नहीं देखा। रूखे बालों के साये में चौड़ा माथा चमक रहा था। मेरी दृष्टि बार-बार वहीं टिक जाती थी।

मैंने लोगों से पूछा—'रात को इन्हें नींद आती है, ठीक से?' कोई कुछ कहे; इससे पहले ही वह बोल उठी—'हाँ। आती है।' मैं तै नहीं कर पाया उसके स्वर में कराहने का भाव ज़्यादा था या उपालंभ का। फिर भी मैं सम्हल तो गया ही। उसने आँखें बन्द कर ली थीं। दवा और डॉक्टर के बारे में बातें चलीं। उसका इलाज सरकारी डॉक्टर कर रहा

था। नतीजा यह निकला—सरकारी डॉक्टर कुछ नहीं जानते। बस नावलजीन और ए० पी० सी० लिख देते हैं। अब सामूहिक चर्चा के लिए कोई विषय नहीं बचा था। अन्दर से चाय के लिए बुलावा आया। धीरे-धीरे लोग उठते गये। मुझे भी बुलाया गया, परन्तु मैं वहीं बैठा रहा।

दादी बैठी रहीं। मैं उठकर सुषमा के सिरहाने वाली कुर्सी पर बैठ गया। उसके माथे पर हाथ रखकर देखा। दादी कहने लगी—'बुखार देखकर बताओ। और कम हुआ होगा।'

मैंने थर्मामीटर उठाया। पारा नीचे गिराया और उसके चेहरे के नजदीक तक झुक गया। वही चेहरा था—थोड़ा रूखा हो गया था। ओठों पर पपड़ियाँ जमने लगी थीं। मैं थर्मामीटर उसके मुँह में लगाने जा ही रहा था कि उसने अपना हाथ बाहर निकाला और थर्मामीटर लेकर मुँह में लगा लिया। मैं घड़ी देखने लगा।

बुखार उसने खुद ही पढ़ा। वह भी कुछ इस तरह कि, मैं थर्मामीटर तक हाथ बढ़ाऊँ उतने उसने निकाल लिया। पढ़कर सिर को तकिये पर टिकाया और थर्मामीटर दादी को दे दिया। मुझे कुछ बुरा लगा। एक सौ दो हैं'—उसने छत की ओर देखते हुए कहा। मुझे लगा—मेरे से ही कहा गया है।

उसका हाथ लिहाफ से बाहर निकला हुआ था। मैंने उसे हाथ अन्दर कर लेने को कहा। दादी ने भी सिर हिलाया। उसने चुपचाप हाथ अन्दर करके गले तक ओढ़ लिया। उसकी माँ दूध लेकर आ गयी थी। उसने मना किया—'दूध नहीं पियेंगे।' मैंने बहुत अपनापन झाड़कर कहा—'पी लो सुषमा! ऐसे कैसे काम चलेगा।' उसने उठने की कोशिश की। मेरे हाथ उसे सहारा देने के लिए अपने आप बढ़ गये थे। उसने लेकर जल्दी से दूध पी लिया। जल्दी ही पानी माँगने लगी। थरमस से, उबाल कर ठंडा किया गया पानी उसे दिया गया।

'दूध के ऊपर पानी?' मैंने पूछा। 'अरे, मुँह मीठा-मीठा हो गया है। दूध इसीलिए पीने को मन नहीं करता!'—उबकाई-सी लेते हुए

उसने कहा। मैं समझ गया—उसका मूड उखड़ रहा था।

मूड तो उसका तभी से उखड़ा हुआ था। तीन दफे बुलाने के बावजूद वह निश्चित समय पर निश्चित स्थल पर नहीं पहुँची थी। मैं घंटों खड़ा सिगरेट फूँकता रहा था।

मैंने भी उसके यहाँ जाना ही बन्द कर दिया था। और इस तरह से पूरे तीन महीने गुजर गये थे।

गर्मियों भर सुषमा मेरे लिए अफेयर बनी रही थी। सभी खास शामें मैंने उसके साथ ही बितायीं। हम अपने शहर को हिल स्टेशन मानकर घूमने-फिरने निकलते थे। वह काफी सज-सँवरकर आती थी। रिजर्व बैंक के सामने एक अँधेरे से रेस्तराँ में हम खूबसूरत अन्दाज से बातें करते। मैं अक्सर लतीफ़े सुनाकर उसे हँसाया करता था। वह सिर्फ दिलचस्पी लिया करती थी, क्योंकि उसके पास इस तरह के अनुभवों की कमी थी।

ऐसे दिन लम्बे नहीं होते। परन्तु टीन-एजर्स के साथ कुछ दिन खींचना मेरी हॉबी बन गई थी। लोग मेरी इस बात को नापसन्द करते रहे हैं। मैंने कभी परवाह नहीं की। कुछ दिलचस्प चीजों की हम अजीब ढंग से कीमत चुकाते रहें, तो इसमें हर्ज़ क्या है। आदमी अपने-आपमें बना रहे—यही उपलब्धि किसी तरह कम नहीं है। सुषमा को पहली नज़र में देखकर ही मैंने निश्चित कर लिया था—इसके पास आँधी की तरह पहुँचना होगा। एक किनारे तक पहुँचा हुआ, अछूता स्कोप उसके गिर्द था।

वह जितनी रिज़र्व और नाजुक मिजाज थी, उतनी ही अविश्वसनीय भी थी। अखरने वाले, बातचीत के लम्बे सिलसिले चलाने पड़े। उसकी आँखों की गहराइयों में जाने क्या-क्या ढूँढ़ निकाला गया—जो इतना सही लगा उसे कि वह मेरे पर विश्वास करने लगी। वास्तव में वह एक कमजोर लड़की थी। यही उसकी तमाम खूबसूरती थी।

हिन्दी साहित्य की अपूर्णता और अक्षमता पर लाखों बातें उठती रहें, परन्तु लड़कियों को प्रभावित करने के लिए, इसमें काफी सामग्री उपलब्ध है। उदाहरण के लिए फर्स्टईयर में पढ़ रही किसी भी हिन्दी भाषी टीन-एजर को आत्मीयता बढ़ाते समय 'गुनाहों का देवता' पढ़ने की सलाह देता हूँ। अगर ज़रा भी साहित्यिक रुचि अगले में दिखाई देती है, तो उसे आग्रहपूर्वक पढ़ने को दे आता हूँ। फिर इस प्रभावशाली अस्त्र को निशाने पर बैठाने के लिए कॉफी और गंभीर किस्म की बातों के दौर चलते हैं। अब सुविधापूर्वक प्रेयसी को मानसी माना जा सकता है।

सुषमा को मैंने अपने टूटते हुए व्यक्तित्व की कथा बड़ी संप्रेषणीय निर्ममता से सुनाई थी। वह उदास हो उठी। मैंने उसे 'आषाढ़ का एक दिन', 'शह और मात' पढ़वाये। 'नदी के द्वीप' को पढ़कर वह अत्यधिक भावुक हो उठी थी। शाम के सुरमई अँधेरे में उसकी हथेलियों को धीरे से दबाकर मैंने उसके प्रति अपने को निश्चिन्त-सा कर लिया था।

सुषमा ने बहुत चेंज करने के बाद डायरी लिखना शुरू किया था। यह डायरी मैंने ही उसे भेंट की थी। एक लम्बी शाम वाले दिन से अगली तारीख को उसने मुझे अपनी डायरी का एक पृष्ठ पढ़वाया—'प्यार जताने का यह अहिंसक तरीका उसे समझ में आ गया था। मानसिक माया-जाल में फेंककर उसने लिखा था—'जहाँ तक प्रदीपजी का सवाल है। काफी दिलचस्प आदमी हैं। चूँकि मेरा और उनका काफी निकट का सम्पर्क रहा है, इसलिए ऐसा प्रतीत हुआ कि वे अपने में बहुत दूर तक टूट चुके हैं। मैं भी न जाने किस तरह की हूँ कि अक्सर उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाती हूँ; क्योंकि मैं एक ऐसी वीणा के समान हूँ जिसमें तार नहीं हैं—जो उसके सुरों को प्रगट कर सकें। प्रदीपजी मेरा बहुत खयाल करते हैं। इसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ।

शुरू में मेरे और उनके बीच में बहुत कम सम्पर्क था, परन्तु एकदम से एक आँधी के झोंके के समान वे मेरे अत्यन्त निकट आ गये हैं।... मेरे सम्पर्क में ऐसे बहुत कम व्यक्ति आये हैं।

मुझे नहीं मालूम—उसके बाद उसने अपनी डायरी में कुछ और लिखा या नहीं। परन्तु रोज शाम को वह मेरी प्रतीक्षा किया करती थी। उसके घरवालों को खुलकर ऐतराज नहीं हो सकता। हाँ, खटकने वाली कई बातें बीच में होती रहीं। मेरे चरित्र की बात आखिर में आ ही गई थी।

दूसरे दिन शाम को पहुँचा तो पता लगा सुषमा को टाइफाइड था। क्लोरो-माइस्टिन दी गई थी। मुझे पहले से ही शक था। मन-ही-मन खुशी हुई—कम-से-कम एक हफ्ते तक यह बिस्तरे पर ही पड़ी रहेगी। लिहाफ गले तक ओढ़े। हर शाम मैं उसे देखने जा सकता था—उसके प्रति अतिरिक्त आत्मीयता, सहानुभूति या ऐसी ही कुछ चीज़ जताने। वह भी फ़ील करती रहेगी।

मेरे बारे में, एक विशुद्ध रूप से शरीरधर्मा लड़की को लेकर अफवाहें न फैलतीं तो शायद मैं इस घिस-घिस वाले खटराग में कुछ दिन और गुज़ार देता। सुषमा का संसर्ग उसके घरवालों में इतना विभाजित हो गया था, कि बाहर वाले किसी भी आदमी के लिए कुछ बचता ही नहीं था। उसके अनगिनत रिश्तेदार, कजिन और बुजुर्ग। उन सब के साथ निभाने के लिए एक बहुत ही घटिया क़िस्म के आदमी भी ज़रूरत थी। जिसे मैं अपने अन्दर नहीं ढूँढ़ पा रहा था। उसके यहाँ पापा को छोड़कर सब मुँह पर आलोचना करने वाले जीव थे। इस तरह बीमारी में उसके यहाँ जाना एक सप्लीमेंट ही था। अपनी सम्भावित छीछालेदर के बारे में मैं सतर्क ही नहीं, क्रुद्ध भी था।

उस दिन उसके नज़दीक कोई नहीं था। एक छोकरा नौकर दूर बैठा जूतों की एक कतार पर पालिश किये जा रहा था। मैं कुछ देर तक पलंग के पास खड़ा रहा, क्योंकि सुषमा सो रही थी। उसकी पलकें मुँदी हुई थीं। चेहरा कुछ तपा-तपा सा था। मैं दूसरे कमरे में जाने की सोच ही

रहा था, कि उसने आँखें खोल दीं। उसने मुझे कुछ इस निगाह से देखा कि मैं उसके सिरहाने बैठ गया। उसके माथे पर हाथ रखा। बुखार बहुत तेज़ मालूम पड़ा। मैंने हाथ हटाया नहीं—माथा सहलाता रहा। उसका हाथ रजाई से बाहर आया और सिर की तरफ बढ़ा। मैंने समझा—वह मेरा हाथ अपने माथे से हटाने जा रही है। परन्तु उसने अपना हाथ धीरे से मेरे हाथ पर रखा। मेरी हथेली उसके माथे को छू रही थी और उसका गर्म हाथ ऊपर रखा था। मेरा हाथ पसीजने लगा।

गहरे सोच में डूबे होने का भाव उसके चेहरे पर छा गया था। मुझे कुछ याद हो आया। उस दिन, मेरे घर पर भी यही भाव उसके चेहरे पर चिपककर रह गया था।

—उस दिन सवेरे से पानी बरस रहा था। दोपहर को सहसा मौसम खुलने लगा। रास्ते के पानी औरकीचड़ से बचते हुए सुषमा मेरे घर आई थी। आश्चर्य और खुशी से भरकर मैंने उसका स्वागत किया। घर पर कोई न था। मैं पंखे के नीचे गद्दा बिछाये कोई उपन्यास पढ़ रहा था। जब तक मैं उसको बैठने का उपयुक्त स्थान खोजता वह तकिया खींचकर मजे में गद्दे पर लेट गई। उपन्यास के पन्ने पलटती रही। मैंने चाय का प्रस्ताव रखा। उसने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। जब बहुत देर तक यूँ ही वह किताब के पन्ने, बिना पढ़े उलटती-पलटती रही, तो मेरी समझ में कुछ आया। मैंने उससे कहा—'मैं बहुत अच्छा पामिस्ट हूँ। हाथ दिखाना चाहती हो?'—उसने दिलचस्पी लेने की मुद्रा में, लेटे-लेटे अपना हाथ खोलकर मेरी ओर बढ़ाया। मैं देर तक उसका हाथ देखता रहा। यह बात और थी कि पामिस्टों की तरह उसे कुछ बता नहीं रहा था। उसे भी इस बात पर कोई ऐतराज नहीं था। किसी भी बात पर नहीं हो सकता था। ऐसा वक्त काफी हद तक खुलने की अनुमति देता है।

उसके माथे पर नन्हीं-नन्हीं बूंदें चमकने लगी थीं। मधुर श्रम की। बहुत अलसाई हुई प्रतीत होती थी। वैसे-के-वैसे ही गद्दे पर लेटी थी। उसके चेहरे पर गहरे सोच में होने का भाव था और पलकें हिल नहीं

रही थीं। मैं लाख चाहता रहा कि वह मुझ से कुछ कहे, परन्तु उसने फिर जुबान नहीं खोली, अजीब नज़र से मुझे देखती रही। वह नजर न तो घृणा थी, न ही प्रेम। शायद इन दोनों के बीच की कोई स्थिति थी।

आज भी बुखार में अकेले पड़े-पड़े इसने जाने क्या-क्या सोचा था। मैं अगर उठकर जाने लगता तो वह हिंस्र हो उठती। जैसे, उस दिन चाय बनाने जाने तक को इसने उठने नहीं दिया था। कालर पकड़कर रोक लिया था। 'चुपचाप बैठे रहिये, यहीं के यहीं। जब तक मैं न कहूँ, तब तक!'—कहकर लगभग विक्षिप्त नेत्रों से मुझे देखती ही रही थी। इस वक्त भी मुझे बैठे ही रहना होगा—मैंने सोचा, बीमार है तो क्या हुआ, गुस्से में आकर यह कुछ भी कह बैठेगी। मैं उसी तरह उसके सिरहाने बैठा जुगाली करता रहा।

अगर ऐसी पिघलाने वाली बातें न उठ रही होतीं तो मैं उसके यहाँ आने के अपने उद्देश्य से बेखबर नहीं होता। उसके घरवालों ने पिछले दिनों मेरे चरित्र के बारे में काफी मुक्त उद्‌गार प्रकट किये थे। मेरे पीछे—मैं सुषमा में इन्ट्रेस्टेड नहीं होता। परन्तु शत्रुता तो मेरे खून में भी थी।

बहुत देर बाद उसने दूसरी तरफ करवट लेकर मुँह फेर लिया था। फिर रजाई को मुँह तक ओढ़कर आदेश सा दिया था—'कल आना।

जाऊँ या न जाऊँ—इस बात को लेकर मन उलझता ही गया। सड़क अँधेरी थी और वह बँगला भी सर्द अन्धेरे में डूबा हुआ था। दर-वाज़े सब तरफ से बन्द नजर आ रहे थे। एक आध रेंगते हुए मरियल कुत्ते को छोड़कर कोई और वहाँ महसूस नहीं हो रहा था।

शत्रुता भले ही उसके घरवालों ने पाली हो, शुरुआत सुषमा ने ही की थी। उसने तिरस्कार से काम लिया था। यकायक तिरस्कार। मुझे अपनी मृदुभाषिता पर गहरा विश्वास था। बीसियों डायलॉग याद थे—

जरूरत पड़ती तो बना भी सकता था। परन्तु वह तो सिर्फ कही-सुनी बातों पर पत्थर होकर बैठ गई थी। मैंने कई तरीकों से उससे पूछा। उसने हर बार यही कहा—'मुझे क्या मालूम!'

वह शत्रुता की रौ में बह रही थी। बड़ी हेय दृष्टि से मुझे देखती। मेरी हर बात की उपेक्षा कर जाती। मैं कुछ करना तो चाहता था परन्तु अपने-आपमें बदलाव आते पाकर खामोशी लगा गया। नीला बीच में न आ गई होती तो मैं बेहद पिटा हुआ आदमी बनने की तैयारी में था।

बैठक के दरवाज़े पूरी तरह बन्द नहीं थे। एक बारीक झिर्री से फूटती कुछ किरणें बता रहीं थी। दरवाज़े के पल्ले यूँ ही सटे हुए थे। खटखटाना तक नहीं पड़ेगा। इस चाल से बचने का कोई रास्ता दिखाई न दिया। ऐसी झिरियाँ हम जैसों के लिए ही छोड़ी जाती हैं। क्योंकि टीन-एजर्स टैलीपैथी में यकीन नहीं रखते। उसे जुल समझते हैं।

उसके चेहरे पर बीमारी के आसार गहरा गये थे। पापा सिरहाने खड़े जाने क्या सोच रहे थे। मुझे देखते ही बोले—'बुखार किसी तरह नीचे नहीं आ रहा है। सुबह से अभी तक एक सौ दो और तीन के बीच चल रहा है। अभी भी एक सौ तीन है। क्या करें समझ में नहीं आता।'

मैंने उन्हें कुछ डॉक्टरों के नाम गिनाये। जिन्होंने सफलतापूर्वक अमुक-अमुक के यहाँ अमुक-अमुक को चमत्कारिक ढंग से चंगा कर दिया था। मुझे आशा थी—मेरी आवाज सुनकर वह आँखें खोलेगी। परन्तु वह वैसे ही रही तो मैंने समझा, सो रही है। मैं दूसरे कमरे में चला गया। वहाँ बहुत-से लोग थे। कई तरह की बातों का जिक्र होता रहा।

वैसे मेरा इस तरह आना सबको अजीब लगा होगा। क्योंकि मैंने वहाँ आना-जाना प्रायः बन्द ही कर रखा था। बीच में कोई खास बात ऐसी हुई भी नहीं, कि मैं जाता। दीवाली की रात को पाँच मिनट, दिखाने के लिए खड़े रहकर चला आया था।

वहाँ मज़े से बातें चलती रहीं। बीच में सुनाई पड़ता रहा—सुषमा पानी माँग रही है। सुषमा बुआजी को बुलवा रही है। मैं समझ गया—

वह जाग रही है और मेरी प्रतीक्षा कर रही है। जी में आया...यहाँ से पीछा छुड़ाकर वहाँ पहुँच जाऊँ। परन्तु घरेलू औरतों के उस दल में एक बार पूरी तरह से शामिल होकर, सहसा पलायन कर जाना अनोखी बात हो सकती थी।

कुछ समय बाद, धीरे से मैं बैठक वाले कमरे में आया। इस बार सीधे पलँग की पाटी पर ही बैठ गया, बिल्कुल मध्य में। वह भी जैसे इसके लिए तैयार थी। उसने मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। मुश्किल से उठाया हुआ, एक फ़िल्म फेयर देखती रही। मैं भी उससे कहने के लिए कोई बात नहीं जुटा पाया था। मुझे इसी हालत में बैठे, कई लोग आकर देख गये। मुझे अपनी यह स्थिति दयनीय लगने लगी। झुँझलाकर उससे एक मिनट के लिए फिल्म फ़ेयर देखने को माँगा—जैसे कोई बहुत ज़रूरी खबर देखनी हो। और उसके देने से पहले ही ले भी लिया। वैसे मुझे इस स्थिति से उबारने के और भी प्रयत्न हुए थे। उसकी माँ दूध लेकर आ गई थी। पापा ने आकर माथा छूकर देखा। बच्चे उसके तकिए के नीचे से कुछ तस्वीरें ढूँढ़कर ले गये।

एकाएक वह लौट आई थी और फ़िल्म फ़ेयर को लेकर ही कोई बात उसने शुरू की। उसके स्वर में कुछ था, जो मुझे खींचता रहा था। वह तकिये पर उठ आई थी और दिलचस्पी लेकर बातें कर रही थी।

सुषमा ने सहसा रुककर कहा—'देखना! मेरा बुखार कुछ कम हो रहा है क्या?' मैंने उसके हाथ को छूकर देखा। फिर माथे को छुआ। लगा कुछ कम गर्म था। मैंने रजाई के अन्दर हाथ डालकर उसकी कलाई को अपनी हथेली से घेर लिया। उसने धीरे से अन्दर ही अन्दर वह हाथ उठाकर छाती पर रख लिया। मेरा हाथ भी उसी तरह उसकी कलाई थामे, बना रहा। कमरे में कोई और नज़र नहीं आ रहा था। मैंने उसकी आँखों में कुछ ऐसा तत्व उभड़ते देखा, जिसे कुछ साल पहले मैं

प्यार समझा करता था।

उसकी छातियाँ ज़्यादा उभरी हुई नहीं थीं। उसके छरहरे शरीर से मैच करती हुई थीं। वह पिछले पाँच रोज से टाइफाइड में पड़ी थी। बुखार से उसका बदन जल रहा था। और ऊनी जरसी के नीचे उसकी छातियों पर मैं अपना हाथ घुमाना-फिराना चाहता था। परन्तु मुझे जाने क्यों ऐसा लग रहा था कि यह उसके लिए तकलीफ की स्थिति होगी। मैं सहमा-सा बैठा था। अगले ही क्षण मुझे अपनी बेवकूफ़ी पर हँसी आई। उसे टाइफाइड ही तो था, कैंसर तो नहीं था। और उसने ही मेरा हाथ एक ऊँचाई पर रखा हुआ था। दबाना न मेरे बस का था, न उसके।

उसने पूछा—'सुनो मुझे बीमारी क्या है?' मैंने बता दिया—'टाइ-फाइड।'

—'कितने दिन लगेंगे?'

—'क्या मतलब?'

—'ठीक होने में कितना वक्त लगता है?'

—'अरे चार-पाँच रोज में ठीक हो जाओगी। उसके बाद कुछ दिन एहतियात के तौर पर पड़े रहना होगा।'

—'क्यों?'

—'इसमें रिलैप्स होने का खतरा रहता है, इसलिए। क्या तुम्हें पहले कभी टाइफाइड नहीं हुआ?'

—'नहीं। सुनो ये टाइफाइड कैसे हो जाता है?'

—'एक इबरथेला-टाइफ़ोसा नामक बैक्ट्रीरिया होता है। उसी की मेहरबानी से।'

—'वाह, वाह। क्या बात है। कब तक मैं वैसी हो जाऊँगी?'

—'मतलब, जैसी थीं—वैसी!'

—'हाँ।'

—'एक हफ्ता समझ लो।'

सावधान रहना मेरी आदत रही है। पापा के आते आते मैंने अपना हाथ बाहर निकाल लिया था। उन्होंने उसका माथा छुआ। उन्हें लगा—बुखार कम हो गया है। कम्पेयर करने के लिए उन्होंने मेरा माथा छूकर देखा। झट से थर्मामीटर उठाकर लाये। टैम्परेचर लिया। बुखार सौ पर आ गया था। उनका चेहरा खिल उठा। उन्होंने अन्दर जाकर सबको बताया। सब फुर्ती से आकर जमा हो गये और अपने-अपने ढंग से कन्फ़र्म करने लगे।

उस घर के लोग तुनकमिजाज ज़रूर थे, परन्तु अच्छे फीलर्स थे। और यह कोई बहुत बारीक नुक्ता न था। पाँच दिन का बुखार, मेरे एक घंटे के संसर्ग के बाद टूटना शुरू हो गया था। थोड़ी देर में सब चले गए। उसकी माँ भी, 'भाई साहब से बातें करो।' कहकर चली गई।

सुषमा बड़े संतुष्ट भाव से अपनी हथेलियों को देख रही थी। उसकी बड़ी-बड़ी पलकों पर चिकनापन चमक रहा था। मैं अपनी उपेक्षा, अपमान और बदनामी वगैरह की बातें भूल गया था। यह मानकर कि, षड्यन्त्र थम गया है। सद्भावना उपज रही है। मैंने बातों का सिलसिला जोड़ा, क्योंकि टीन-एजर्स के साथ यह ज़रूरी होता है। जो कुछ करो—शराफ़त से बातें करते-करते करो।

—'सुनो! कालेज कब से नहीं जा रही हो?'

—'पच्चीस तारीख से...सात से सिमिस्टर शुरू है। क्या होगा!'

—'होना क्या है। यह सब तो होता ही रहेगा। पहले तुम्हारी तबियत तो सँभल जाये।

—'सुषमा! लम्बी बीमारी में भी कैसा लगता है। हर समय बिस्तरे पर पड़े-पड़े सोचते रहो।'

—'मगर मुझे तो कुछ लगा ही नहीं—बुखार भी चढ़ा है या नहीं।'

—'इससे पहले कभी अच्छी तरह से बीमार पड़ी हो?'

—'बहुत पहले...तब छोटी ही थी। ठीक से याद नहीं पड़ता।'

—'इस बार तुम्हें कुछ ऐसा नहीं लगा—किसी अपने का खयाल

घेरे रहता हो। जी करता हो—वह देखने आये। कुछ देर सिरहाने पर बैठे। माथा छूकर बुखार देखे। ऐसा होता है। मैं भी टाइफाइड भुगत चुका हूँ।'

—'नहीं। ऐसी तो कोई बात नहीं...कुछ, शुरू में घबराहट ज़रूर हुई थी। जी करता था—पापा यहाँ, मेरे पास बैठे ही रहें।'

—'हूँ। पापा तुम्हें बहुत प्यार करते हैं ना।...सबसे अच्छे तुम्हें पापा ही लगते हैं ?'

—'हाँ। शायद। सिर में दर्द हो रहा है। थोड़ी देर बातें करती हूँ तो सर चकराने लगता है।'

—'देखूँ! सिर दबा दूँ ?'

—'नहीं। आप क्यों सिर दबायेंगे। ऐसे ही ठीक हो जाएगा।...वहाँ से किसी को बुलवा लीजिये।'

मैं उसका माथा सहलाता ही रहा। वह जाने क्या-क्या कहती रही। शायद अपने-आपसे बातें कर रही थी। उसके चेहरे और खास करके माथे पर कुछ बारीक दाने उभरे हुए थे। ये दाने त्वचा के रंग के ही थे। इसलिए दूर से मालूम नहीं पड़ते थे। बालों की एक रूखी लट भी माथे पर जमी हुई थी। जिसे एडजस्ट करने में कुछ वक्त मैंने बिताया।

उसका चेहरा बिल्कुल बच्चों जैसा लग रहा था। वह अपने होठों को एक दूसरे पर दबाकर ऐसे चला रही थी, जैसे लिपिस्टिक लगाते समय किया जाता है। पलकें बड़े आराम से गिरती-उठती थीं। उसे आराम था।

—'कांस्टीपेशन से बड़ी ट्रबुल है। मैं तो इसके डर से कुछ ले ही नहीं रही हूँ। देखिये, पेट एकदम पत्थर हो गया है।...बुखार है या कोई तमाशा है।'

—'नथिंग टू वरी, डियर! एनीमा ले लेना। ठीक हो जायेगा।'

एनीमा का मतलब, खुदा जाने वह समझी या नहीं। मुझे कैसी ग्लानि महसूस हुई, जैसे सामने निरोध कहने के बजाय मैंने फ्रेंच लेदर

कह दिया हो। मुझे शरारत सूझी। खुले हुए क्षण में तो चल ही रहे थे। उससे पूछूँ, 'जानती हो फ्रेंच-लेदर क्या होता है? उसके नाजुक शरीर पर यह क्वेश्चन बड़ा फिट बैठता। परन्तु वह बीमार थी, मेरे टर्म्स भी अच्छे नहीं चल रहे थे। हो सकता था, उसकी तबियत और खराब हो जाती। उसे कांस्टीपेशन भी था।

अपनी इस उत्तेजना को शान्त करने का व्यावहारिक मार्ग अपने-आप निकल आया। उसका पेट काफी गर्म था ताजी तंदूरी रोटी की तरह। उसने कहा था—पेट पत्थर हो गया है। मुझे लग रहा था, गाँठें न पड़ गई हों। उसके पेट की परिधि अत्यल्प थी। टटोलने पर लगा—बिना पाउडर छिड़के कैरम बोर्ड की सतह पर हाथ फिर रहा था। उसने पेट सख्त कर लिया था। अधमुँदी पलकों से मुझे देख रही थी। फिर सहसा जैसे मैदे की लोई मुलायम पड़ गई। नाभि के उष्ण गुटर में स्पर्श की नैसर्गिक सुन्दरता थी। ऊँगली में क्षण-भर को मादकता सिमट आई। जो थोड़ी ही देर में दूर तक फैल गई।

पापा न आ गये होते तो शायद मैं उसे चूम ही लेता। पाँच-छै दिन के बिना नहाई सुषमा की त्वचा पर लाखों की तादाद में बैक्टीरिया जमा हो गये थे। अजीब तरीके से महक रहे थे। बाहर आने पर हथेली को मैं नाक के नजदीक ले गया। वही मेज़ महक थी—बीमार त्वचा की।

पापा ने फिर टेम्प्रेचर लिया। सौ ही था। वे आश्वस्त हो गये। मुझसे कहने लगे, 'और भई, क्या हालचाल है।' मैंने इस प्रकार उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी। वे सोफ़े में धँसकर अखबार पढ़ रहे थे।

मैंने विदा ली। अपनी तरफ से जोड़ते हुए—'कल आऊँगा।'

सुषमा का बुखार वाकई टूट गया था।

उस समय घर के ज्यादातर लोग वहीं बैठे गप्पें मार रहे थे। एक

मेहमान भी आये हुए थे। उस घर के अन्य लोगों की तरह वे भी काफी मोटे और भद्दे थे। थुलथुले तरीके से बार-बार तौलिये से हाथ पोंछते और घिसे-पिटे तरीके से बातों का मज़ा लेते थे। नाश्ता हो रहा था। डाइनिंग टेबुल पर मुश्किल से मेरे लिए जगह बनाई गई।

वह परिवार जब कहीं इकट्ठा बैठा होता, तो नकचढ़ेपन की हद हो जाती। सुषमा, उसकी माँ और बहन तो सुन्दर थीं, परन्तु बाकी सब बेहूदे थे। मुँह ज़रा-ज़रा-सी बात पर बना लेने वाले आधा दर्जन चश्मे। मेरी धारणा थी, कि तरस खाना तो उन लोगों ने सीखा ही न था। मर्द सब घर-घुस्सू थे और हर समय ड्रेसिंग गाऊन चढ़ाये रहते थे। चलते तो उनकी तोंदें हिलती थीं। हालाँकि मुँह पर सब मेरा काफी लिहाज करते थे, परन्तु मुझे शक था कि वे मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रचते थे। खास तौर पर नेशनल हेरल्ड लेकर हर समय सोफ़े में धँसे रहने वाले दो-तीन लोग।

यह मेहमान जो आया हुआ था, कहीं बड़ा अफसर था। उसे रिश्ते की वजह से काफ़ी अहमियत वहाँ प्राप्त थी। मेरे सामने तीन अंडे छीलकर उसने खाये। मैंने नोट किया कि वह कुछ अजीब निगाह से मुझे देखता जाता था। मानों कह रहा हो—बेटा! मुझ से न बनो। तुम्हें मैंने पहचान लिया है। मैं जो बात कहता, वह एकदम काट देता।

धीरे-धीरे बातचीत का केन्द्र मैं बन गया था। वैसे कहने को चाय का दौर चल रहा था।

साफ़ सवाल किया दादी ने ही,—'सुना है तुम्हारी सगाई होने जा रही है।' मैं चुप रहा। फिर लगा कि चुप रहना बेमानी है। मैंने कप को दोनों हाथों में थामकर कहा—'हाँ। एक जगह बात चल रही है। आपको किसने बताया?'

जवाब दिया सुषमा की माँ ने—'को बताइस! तुम्हारी माँ आज दोपहर को आई थीं। वही बता रही थीं।'

—'माँ का क्या है। उन्हें तो यही लगा रहता है। किसी तरह

जल्दी से ब्याह हो जाये।'

—'वो तो कुछ और भी कह रही थीं।—कोई बँगालिन लड़की है, जिसके यहाँ तुम्हारा बहुत आना-जाना है।...तमाम तरह की बातें उठती हैं, इससे तो अच्छा है तुम्हारी शादी कर दी जाए।'

—'अरे नहीं। अम्मा को खामोख्वाह ही वहम हो जाता है। किसी ने उल्टा-सीधा जड़ दिया होगा। बस पीछे पड़ने का बहाना मिल गया।'

यहाँ तक आते-आते मैं अच्छी तरह से समझ गया—सद्भावना के यहाँ दर्शन करना मेरी मूर्खता थी। वे सब मुझे घेरकर उखाड़ने के चक्कर में थे। मैं कुछ बेसहारा भी हो उठा था। सुषमा की तरफ देखने की जरूरत महसूस हुई।

वह करीब पूरी-की-पूरी, पलँग की पाटी पर सिमट आई थी। बड़ी उत्सुकता से, हथेली पर चेहरा रखे सारी बातें सुन रही थी। मैंने लापरवाही से कोट की जेबों में हाथ डाले और कुछ ढूँढ़ने लगा। शायद कोई चाबी।

दादी ने कहा—'वहम नहीं भैय्या! मन चंचल हो जाय तो काबू करना मुश्किल हो जाता है। तुम्हारी माँ तो कह रही थीं—सुषमा जैसी कोई सुशील लड़की मिल जाए तो भले ही गैर जात में भी शादी कर दें। पर इधर-उधर जाना ठीक नहीं।

मैं सोच रहा था—कुटिल-सा दिखने वाला वह मेहमान कोई-न-कोई चुभता हुआ रिमार्क ज़रूर पास करेगा। परन्तु वह बड़ा गम्भीर होकर चुपचाप बैठा रहा। जैसे इस बात से उसे कोई मतलब ही नहीं था, बराबर कुछ-न-कुछ खाये जा रहा था। बाकी लोगों के चेहरों पर एक जैसी मुद्राएँ थीं। मारक मुद्राएं। मैंने फिर से सुषमा की तरफ देखा। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें मुझ पर लगी थीं। यही तो उनका पिटता हुआ मुहरा था। मैंने स्थिति को भाँप लिया। इस चक्रव्यूह को तोड़ने में, मैं समर्थ हो सकता था। यद्यपि कूटनीति कहती थी—'बेटा चुप लगा जाओ। इज्जत से फूट लो।' पर मन नहीं माना। फिर एक मेहमान भी

तो वहाँ था। ऐसी क्या बात थी। परदा जो भी करना था, उन्हीं को करना था।

मैंने बहुत गम्भीर होकर चारों ओर से घेरने वाले चश्मों को एक नज़र देखा। फिर किसी गहरे विश्वास से पापा के चेहरे पर निगाह टिका दी। कुछ क्षणों तक सिर्फ जायजा लेता रहा। वे भी दिलचस्पी से मुझे देख रहे थे। मुझे लगा—अमोघ अस्त्र चलाने का समय आ गया था।

मैंने पापा से ही पूछा—'सुषमा के बारे में आपका क्या विचार है? कुछ देर तक मौन छाया रहा। सब लकवा खाये से बैठे रहे।

मौन पापा ने ही तोड़ा—'सुषमा अभी बच्ची है। उसे तो अभी पढ़ना चाहिए। एक-दो लड़कियाँ ही हमारे परिवार में, कुल हैं। कौन मुसीबत पड़ी है। समय आने पर देखा जाएगा...हाँ! उसकी खुशी के लिए कुछ भी करना पड़े, मैं हमेशा तैयार हूँ।' उन्होंने दादी की ओर देखा।

सुषमा छत की ओर ताक रही थी। दादी ने एक और दाँव दिया—'हमारा खानदान बहुत ऊँचा रहा है। गैर जात में शादी हम कबहूँ न करब। नाक थोड़े ही कटाय देव। ई महेस का कहे देव। हम अपनी बिटिया की सादी अपने मन से करब।...तुम! ठीक है—आते-जाते हो। पर भय्या, ऐसा कभी मत सोचना। हमारे यहाँ अइस न होई, समझे! लो, चाय और लो। अरे! समोसा तो खाये ही नहीं। खाओ।'

उसके बाद बहुत देर तक खामोशी रही। लोगों ने आग्रह किया तो वह सिर्फ मिर्च भरा समोसा मुझे खाना पड़ा। चाय का भी स्वाद जाता रहा। दाँतों की खोखल में चरपरे कण धँस गए थे। और बराबर मुँह को कसैला, तीखा स्वाद दिए जा रहे थे।

यद्यपि प्रसंग सशक्त था, परन्तु लोग मूड बदलकर दूसरी बातों पर का गए थे। मानो उस बात की जड़ ही कट गई हो। मुझे लग रहा था कि अभी उसी सन्दर्भ में मुझे कुछ बोलना चाहिए। कटुता अभी तक अप्रत्यक्ष रूप से ही आई थी। मेहमान की तरस खाती नज़रें मैं सह नहीं

पा रहा था। एक बार उठना चाहा तो पापा ने हाथ पकड़कर बैठा लिया। 'कहाँ जाते हो। अभी एक-एक कप चाय का दौर और चलेगा।'—कहकर वे नौकर को झाड़ने लगे। मुझे लगा मेरी कई तरह से खिंचाई हो रही थी। जी कर रहा था—उठकर भाग जाऊँ। किसी तरह तो इस तनाव भरी स्थिति से छुटकारा मिले। मगर अन्दर-ही-अन्दर कोई रोक भी रहा था।

ऐसी ही स्थिति में कुछ देर प्रायः सुबुकते रहने के बाद, मेरा विद्रोह उभर आया था। मनोवृत्ति में एकदम बदलाव आ गया। जिस कुलीन कन्या के बारे में ये लोग डींगें हाँक रहे थे, उसकी चिकनी त्वचा के बैक्टीरिया मेरी हथेली में अभी तक भरे थे। गर्मियों-भर इस लड़की के साथ चिपका मैं घूमता रहा था। मेरे घर में गद्दे पर जब ये लेटी थी··· वगैरह। सब कुछ हो जाने के बावजूद यह उस बंगालिन से अच्छी कही जा रही थी। वाह!

चाय आते ही, एक कप चाय लेकर मैं सुषमा के पास गया 'लो चाय पियो'—कहकर मैं सिरहाने बैठ गया। हालाँकि वहाँ कुर्सी भी पड़ी थी। वह आश्चर्य में पड़ गई थी। उसके चेहरे पर अविश्वास साफ झलक रहा था। मैंने परवाह नहीं की—दूसरे हाथ को उसकी पीठ से चिपकाकर उसे बलपूर्वक तकिये के सहारे ले आया। मैं बहुत जल्दी कर रहा था। 'रुको।' वह नाराज होते हुए बोली। मुझे कतई बुरा नहीं लगा। आहिस्ते से वह उठी और तकिये से अच्छी तरह पीठ लगाकर बैठ गई। मैंने उसके घुटनों तक रजाई खींच दी। उसने मेरे हाथ से प्याला लिया और चाय पीने लगी। उसकी नजरें घुटनों के मोड़ पर थीं—शायद बचने की कोशिश में। मगर एक्शन में स्पष्टता थी।

लोगों के चेहरे नरम पड़ गए थे। मेहमान उठकर चले गये थे। सुषमा की माँ ने चाय का एक कप मेरी ओर बढ़ाया तभी दो लड़कियाँ सदर दरवाजे से दाखिल हुईं। वे शायद सुषमा की सहेलियाँ थीं—क्लास-मेट। तबीयत का हाल पूछने आई थीं। मुझे उसके सिरहाने बैठा देख-

कर उन्होंने अपनी समझ से, मुझे कुछ समझा और आदर से नमस्ते की। मैंने अपने-आपको विजेता अनुभव किया।

'क्या हो गया इन्हें ?'—उनमें से एक ने पूछा। और सब लोग तो जैसे तमाशा देख रहे थे। मैंने ही जवाब दिया—'मियादी-बुज़ार।' सुषमा स्निग्धता से मुझे देखे जा रही थी। उस क्षण, मैं कुछ सिद्ध हो गया था।

त्राण

वहाँ पोर्टिको की पीली रोशनी में स्ट्रेचर पर उसे लाया गया। हम लोग नाली के पास खड़े थे। इस दृश्य की प्रतीक्षा करते।

वे तेज कदमों से स्ट्रेचर को एम्बूलेंस तक ले गए, जो सड़क पर खड़ी थी। पिछवाड़ा इस ओर किये स्ट्रेचर हमारे करीब से गुज़रा था। उसकी कराहट का आभास हुआ। उसका पीली बाँह से ढका बेहद पीला चेहरा उस रोशनी में घुलता हुआ लग रहा था। मगर तब तक वे आगे बढ़ गए थे। शायद वह तीखेपन से कराह रही थी। या खामोश पड़ी हो, उसके उठते हुए दर्द रहे हों। हाय रे!...ओह...ओह...। मुझे तो इतना याद है एक सोख्तेनुमा लाल कम्बल पर वह लुढ़की हुई दवात की तरह पड़ी थी।

एक नर्स और एक दाई उसके पीछे थीं। उन्हें साथ जाना था। नर्स के चेहरे पर श्रम छलक रहा था। थोड़ी देर पहले तक उसने काफी जोर लगाया था। पिताजी नाली के उस पार टहल रहे थे। बहुत बेचैनी से। एक माँ ही ऐसी थी जो मुस्तैद और सक्रिय नज़र आ रही थी। उसके हाथ में प्लास्टिक की टोकरी थी, जिसमें जरूरत का सब सामान रखा था। बगैर ज़रूरत का भी। मेरे पास से गुज़रते हुए माँ ने अजब निगाह से मुझे देखा। जो भी हो, उसे सहानुभूतिपूर्ण तो मैं नहीं कह सकता। वह भावना सहज अनुमान पर आधारित लग रही थी। उस समय कोई भी यही समझता कि मुझे दुःख हो रहा है।

'कोई घबराने की बात नहीं है। इसे बड़े अस्पताल ले जा रहे हैं...। यहाँ इनसे नहीं हो रहा।' माँ को कुछ कहते देखकर पिताजी नाली पार करके हमारे पास चले आए थे। गुस्से में बोले, 'साला क्या अस्पताल है!...तमाशा बना रखा है।'

उन लोगों ने स्ट्रेचर एम्बूलेंस पर लाद दिया था। माँ प्लास्टिक की टोकरी में रखे सामान को जाँचती-सहेजती उस ओर चल दी। स्ट्रेचर रखवाने वाली जमादारनी बोली, 'आप कहो तो बीबी जी, मैं भी चली चलूँ। हाय मेरी फूल-सी नाजुक बहूरानी!...बीबी जी चलूँ तो सही मगर सिस्टर नाराज होवेगी।'

माँ बोली, 'अरी तू चल। गाड़ी के साथ लौट आना। जाने कैसी जरूरत पड़ जाए रास्ते में!' पिताजी आगे ड्राइवर के साथ वाली सीट पर बैठ गए थे। उसकी कराहों का शोर बढ़ गया था। माँ चढ़कर अन्दर जा बैठी और उसकी ओर देखते हुए बोली, 'हे भगवान! हे देवी मैय्या, महारानी, ठीक-ठाक सब काम हो जाए। कृपा करो...।'

मुझे शक हुआ स्ट्रेचर पर लेटी, उसने मुझे देख लिया है। क्योंकि उसका चीत्कार तेज हो उठा था। मैं लपककर आगे, पिताजी के पास जा बैठा।

बहुत देर हो गई बैठे-बैठे। हे राम, कब खतम होगी यह बातचीत। यहाँ तो भूख के मारे जान निकल रही है। चलो, पहले कहीं चाय पिलाओ। ऊँ हूँ! उठो ना...।

--कमाल है। भूख से चाय का क्या रिश्ता। भूख लगी है तो कुछ खाएँ। चाय से क्या होगा!

—नहीं भई, अपनी तो चाय ही ठीक है। चलो न, तुम तो एकदम जमकर बैठ जाते हो। उठो...देखो एक प्याला चाय पीते ही क्या ताजगी पैदा होती है।

—नहीं जी। सिर्फ चाय पीनी है तो उठना-उठाना बेकार है। साथ में खाना ज़रूर पड़ेगा। बोलो, मंजूर है ?...अरे यार, तंग आ गए हैं काली कॉफी और पीली चाय सुड़कते। ऐसा कोई खुदाई कानून तो नहीं बन गया।...इस डाइटिंग ने तो दुखी कर दिया।...हम नहीं जाते।

—देखो, अच्छे बच्चे ज़िद नहीं करते हैं। समझे ! राजा बाबू, चलो उठो।

—कह दिया, नहीं जाते।

—हुँह !...सुनो, तुम समझते क्यों नहीं। ये सब मैं तुम्हारे लिए ही तो कर रही हूँ। क्या !!...तुम्हारी मोटी अकल में ये बात नहीं आती। मैं मोटी हो गई तो लोग क्या कहेंगे, देखो दूल्हा कैसा सींख सलाई, बहू जैसे...। क्या ! ही-ही-ही। समझे, अब उठो।

दो रुपये पकड़ाने पर वे अपनी जगह से हिले। कहने लगे, 'एक आदमी और ले आएँ, फिर अन्दर ले चलते हैं।' करीब दस मिनट बाद वे लौटे। इन्होंने स्ट्रेचर इस तरह से उठाया जैसे कोई अहसान कर रहे हों।

माँ ने बटुआ हाथ में निकाल लिया था। क्योंकि यह बड़ा अस्पताल था। दरबान, वार्ड बाय, दाई, जमादारिन, सिस्टर सबको देना पड़ता था। फिर आधी रात का समय।...वे सब यंत्रवत दौड़-धूप करने लगे थे। मैं और पिताजी गलियारे में अटक गए।

उसे एडमिट करते ही लेवर-रूम में ले जाया गया। यह खबर जमादारनी ने हमें दी। मुझे लगा, थोड़ी देर बाद झंझट निपटने वाला है। सारी तकलीफ डिलिवरी न होने की थी। दर्द रह-रहकर उठता था, लेवर रूम में ले जाते ही फिर बैठ जाता। उस छोटे अस्पताल में लोग जाते-ले-जाते थक गए थे। जाने क्यों ऐसा लग रहा था कि यहाँ दिक्कत नहीं होगी।...वहाँ औज़ार-समान भी है, माँ ने कहा था।

काफी देर हम लोग खामोश बैठे रहे। पिताजी ऊँघते हुए से लग रहे थे। मुझे तसल्ली हुई, सो जाएँ तो अच्छा। इतने में किसी बच्चे के जन्मने की आवाज आई। नवजात रुदन स्वर। पिताजी चौंककर खड़े हो गए। उनके चेहरे पर उत्सुकता और प्रसन्नता झलकने लगी। वे उठकर गलियारे में बढ़े। सूचना प्राप्त करने का कोई साधन नहीं था। बच्चे की आवाजें इस तरह से आ रही थीं जैसे कोई टेलिग्राफिक मैसेज रिकार्ड किया जा रहा हो। रुक-रुककर, कोड जैसी रुलाई। पक्की बात थी कि बच्चा पैदा हो गया था।

बहुत देर हम कान खड़े किये वार्ड के स्प्रिंग डोर पर आँखे गड़ाए रहे तब जाकर माँ निकली। पिताजी तेजी से आगे बढ़ गए, 'हो गया ?' मुझे लगा कि पिघला हुआ सीसा कान में पड़ने वाला है। माँ की मुख-मुद्रा कुछ ऐसी ही थी। ज़रूर लड़की हुई है।

'नहीं।' माँ ने कहा, 'अपना नहीं है। उसे फिर बाहर ले आए हैं। हो नहीं रहा है। हे भगवान, क्यों बेचारी को सजा दे रहा है। मेरे सत्त-नारायण !'

'ऑपरेशन तो नहीं करना पड़ेगा ?'—पिताजी ने फौजी किस्म की गंभीरता से पूछा। मुझे याद नहीं, माँ ने क्या जवाब दिया था। मुझे माँ के चेहरे पर वेदना करवटें लेती दीख रही थी। मुझे पहचान तो नहीं थी परन्तु अनुमान किया कि यह प्रसव-वेदना है।

पिताजी बेचैन होकर टहलने लगे। माँ विपत्तिग्रस्त-सी बेंच पर बैठी रही। वह टकटकी बाँधे स्प्रिंग डोर की ओर देख रही थी। उसे बुलाए जाने की प्रतीक्षा थी जो जल्दी ही पूरी हो गई। दाई बुलाने आई थी, 'चलिए, मरीज आपको बुला रही है।'

'क्या हुआ !' माँ ने पूछा।

'कुछ नहीं। घबरा गई है। उल्टियाँ आ रही हैं।' माँ उसके पीछे-पीछे चल दी।

—क्यों नहीं मानेंगे। बताओ। क्या मेरे में कोई कमी है ? क्या मैं देखने में, सुनने में बुरी लगती हूँ ? फिर क्यों नहीं मानेंगे।...अरे देखना तो सही। तुम्हारी माँ देखते ही लट्टू हो जाएँगी। तुम तो ऐसे ही दुबले हुए जाते हो...रहने दो मेरे मम्मी-डैडी ऐसे नहीं हैं। जिस समय, जिस तरह कह दूँगी तैयार हो जाएँगे।

—सुनो, तुम पार्टी-वार्टी के चक्कर में क्यों पड़े हो। डैडी को इसी बात का खटका लगता है। तुम्हारी पार्टी के पीछे तमाम पुलिस, सी० आई० डी० वगैरह जो लगी रहती है।...नहीं, नहीं, मैं छोड़ने को नहीं कहती। हाँ, अपने को तुम्हारा माओ समझ में नहीं आता। अपने तो गांधी बाबा ही भले। कैसा दिखाई देता है तुम्हारा माओ, जैसे कोई सोया हुआ पहाड़ हो।...नाराज हो गए। लो बाबा, कान पकड़े। अरे अपन तो यूँ ही मजाक कर रहे थे। माओ जी तो सचमुच बहुत अच्छे हैं। तभी तो...।

—नही, नहीं। अपन इस चक्कर में पड़ने वाले नहीं। मालूम है पिछले तीन हफ्ते से जान में जान नहीं थी ? गले में फंदा पड़ा दिखाई देता था। कुछ हो जाता तो जहर खाकर सोना पड़ता। ये तो अच्छा हुआ कि डाक्टर के पास जाते-जाते रह गई।...बाबा, अपने को माफ करो। आपका क्या बिगड़ेगा। मरना पड़ेगा हमें। ताजिंदगी लोग ताने कसते रहेंगे। ये बहू तो शादी से पहले ही...छी:। अरे, तुम्हें तो जरा भी सब्र नहीं है।

—अरे, च-च-च, बुरा मान गए। आप सोचते हैं आप ही को जल्दी है, यहाँ देखिये पढ़ते-पढ़ते बुढ़ापा आ गया है। बी० एड० कर लिया। एम० ए० कर लिया, अब एम० एड०...कोई सिलसिला ही नहीं।

'इस दफे हो जाना चाहिये।' माँ ने मन ही मन जैसे प्रार्थना करते हुए कहा।

'क्या फिर ले गए हैं ?' पिताजी ने एक अतिरिक्त सवाल पूछा। माँ के चेहरे पर बेचैनी, पीड़ा और हताशा की पर्तें छाई थीं। वह सुबह से इसी झमेले में लगी थी। सारी थकान उसकी पलकों पर इकट्ठी हो गई थी। हर घंटे लाजिमी तौर पर चाय पीने वाली माँ सुबह से अन्न-जल छोड़े, यहाँ तक कि बिना चाय के इस प्रतीक्षा में बैठी थी। बैठी ही नहीं थी, यथासंभव प्रयास भी कर रही थी। पिताजी सिर्फ साथ में थे। बेचैन रहने, परेशान दिखने और बार-बार खड़े होकर टहलने लगने के लिए।

माँ का यह चेहरा मुझे अजनबी-सा लगा। क्योंकि मैं दु:खी नहीं था। मेरे मन में कोई व्यथा नहीं थी। मैं उसकी तरह संवेदित नहीं हो पा रहा था। मुझे यह भी नहीं लग रहा था कि यहाँ मैं स्वेच्छा से बैठा हूँ। या खुद चलकर आया हूँ। मैं अपने वहाँ उपस्थित होने के कारणों की छानबीन करने लगा।

क्योंकि नियतिवादी मैं कभी नहीं था, इसीलिए उस घटनाक्रम को मैंने षड्यन्त्र की संज्ञा दी थी। मैं कुछ भी सोचता, अपने बारे में, जिन्दगी के बारे में वहीं पहुँचकर रह जाता था। उसी कथित षड्यन्त्र की भूमिका तक। उस समय भी मेरे साथ यही हुआ। मैं अपनी वहाँ उपस्थिति की वजह उसी कथित कुर्बानी को मानने लगा जो अपने कुल के पक्ष में मैंने दी थी। जो अपने परिवारजनों और विशेषत: माँ के पक्ष में मैंने दी थी। जो अपनी जवान बहनों के पक्ष में मैंने दी थी।

सोचते हुए मैं उसी जगह पहुँच गया। हर मानसिक अभियान मुझे यहाँ तक ले जाकर छोड़ देता था। मैंने अनुभव किया, पिछले तीन वर्षों से मैं अपने निर्णय नहीं लेता रहा हूँ। मुझे इसकी जरूरत ही होती थी। किसी यांत्रिक पुर्ज़े की तरह मेरा संचालन कुछ लोगों के हाथ में था।

मुझे इस व्यवस्था पर एक दफे को छोड़कर कभी ऐतराज नहीं हुआ। एक बार मैंने संघर्ष करके पराजय प्राप्त की थी और उसे सहज ही लील गया था, क्योंकि मेरे युग के लोग, विशेषत: मेरी पीढ़ी के लोग

यही कर रहे थे और यही करने वाले थे ।

प्रिय...

तुम्हारे सब खत मुझे मिल जाते हैं ।

—आखिर तुम क्यों अब तक माने बैठे हो कि मैं ज़िन्दा हूँ । इस फेंटेसी को तोड़ दो, सब इल्यूजन है ।

ये खत मैं तुम्हें सातवें आसमान से...

छठी इन्द्री से (सिर्फ इससे अनुभूति शेष है, जो तुम्हें खत लिखने के लिए बनाई गई है ।)

मुझे क्यों याद करते हो—भूल जाओ ना ! मेरा अब पुनर्जन्म नहीं होगा—इसके लिए मरना ज़रूरी था—और मरने से पहले ज़िंदा रहना ।

—मरने के पहले आखिरी क्षणों तक जिए रहना आदमी की बद-नसीबी है । उसके पहले की गई आत्महत्या (एँ) थोड़ी देर का सकून दे सकती हैं परन्तु मुक्ति नहीं (मुझे दोनों ही नहीं चाहिये ।)

किसी विकल्प की तलाश बेमानी है—आत्म-प्रवंचना है ।

ज़िंदगी को ओढ़े रहना—आत्मरति

दूसरों को ओढ़े देखना—आत्मपीड़न

(अविकल्प दुर्निवार झूठ, जिसे कोड़े मार-मार कबूल करवाया जाता है—कि मैं राम नहीं, श्याम हूँ)

—अब बोल ! क्या चाहता है ? पारस फेंक दे, ढपोल शंख ले ले ।

मेरी बात मान, कुछ मत ले, अपने को भी नहीं ।

फिर ?...? चौथा आयाम

जिसमें पहले के तीनों आयाम तोड़ना अनिवार्य शर्त है—पारस, शंख और मैं ।

जला दे अपने को, खाक कर दे ।

पर खबरदार—एक भी कतरा न बचने पाए खून का ।

इस सहस्त्रबाहु के नाश के लिए अपना ही खून पीना ज़रूरी है।

इस रतिक्रिया को झुठलाना योनि-पूजक तांत्रिक को सबसे बड़ी चुनौती है।

उस गलियारे में जाने कितनी सीलन भरी थी। हम जड़ाने लगे थे। पिताजी पैसेन्जर गाड़ी के जमुहाइयाँ लेते हुए धैर्यवान यात्री की तरह निष्ठापूर्वक बैठे थे। उन्होंने कोहनियाँ घुटने पर टिकाकर, हथेलियों में चेहरा रखा हुआ था। मुझे उनकी इस निष्ठा पर श्रद्धा हुई, फिर ईर्ष्या, फिर चिढ़न।

और एक शिशु जन्मा। इस बार हम सावधान थे, उत्सुकता जाहिर करने वाले नहीं थे। और दिल कह रहा था कोई और है। हमारा वाला नहीं। यह 'हमारा' शब्द यहाँ आश्चर्यजनक लग रहा है। इसकी सीमा में असंख्य लोग मालूम पड़ रहे थे। इसमें, इस हजूम में मैं, माँ, पिताजी और बिरादरी के लोग शामिल थे। यह ज़रूरी था। इसे प्रथा मान लें।

दरअसल जिन चीजों को मैं नितान्त व्यक्तिगत और गोपनीय मानता था, उसको अनिवार्य रूप से सामूहिक होते पाया। मजे की बात ये कि, इनकी घटना व्यक्तिगत इतिहास माना जाता था।

माँ घबराई हुई बाहर आई। उसने पिताजी से कहा, 'बाहर दुकान से पट्टियाँ, नेपकिन, तौलिया...ले आओ। समय आ गया है।'

वह नगरमहापालिका का अस्पताल था। उसमें रोगियों और जच्चाओं को दवा वगैरह की सुविधा नहीं दी जाती थी। डाक्टर प्रेस्क्रिप्शन लिख देते थे और मरीज़ के रिश्तेदार दौड़कर बाहर गेट के नजदीक बनी, चौबीसों घंटे खुली रहने वाली दुकानों से ले आते थे। पिताजी लपककर गए। माँ उनके सामान लेकर लौटने की प्रतीक्षा में खड़ी रही।

मैंने किसी तरह पूछा, 'क्या इतनी देर वे रुके रहेंगे ?'

'नहीं। अभी जरा सी देर है। मुझे खयाल आ गया कि यह सब पास

में होना चाहिए। नहीं तो एन वक्त पर...।' माँ पिताजी के हाथ से सामान लेकर दरवाज़े पर खड़ी हो गयी। ताकि नर्स बुलाने आए तो एकदम चल दे।

पिताजी उसी तरह ठंडी बेंच पर बैठ गए।

मेरी आँखों के आगे एक दृश्य आ गया। केस बहुत बिगड़ गया है। रक्तस्राव बन्द नहीं हो रहा। डाक्टर प्राण-पण चेष्टा कर रहे हैं। माँ के होश उड़े हुए हैं। पिताजी बाहर बेचैनी से टहल रहे हैं। शायद मन-ही-मन खुश प्रार्थना कर रहे हों। मैं शून्य हूँ, परन्तु हतबुद्धि दिखाई दे सकता हूँ। और...एकदम से डाक्टरी प्रयासों का तार टूट जाता है। मेरे चारों ओर खड़ी जमात शोक-विह्वल हो जाती है। स्यापा और छाती-कुटना होने लगता है। और मैं।

मैं इस दृश्य में अपने को ढूंढने की कोशिश में पसीने-पसीने हुआ बैठा रह जाता हूँ। क्या यह मेरी संभावित मुक्ति नहीं हो सकती थी?

मैं आत्मलीन हो गया था। तब? तब? बार-बार अपने आपसे दुष्टतापूर्वक पूछते हुए। हाँ, अपनी इस निकृष्टता का एहसास मुझे उस समय भी हो रहा था। नहीं तो मैं ग्लानि से क्यों भर उठता। अपने को धिक्कारने क्यों लगता।

अंदर की कुछ खबर पता नहीं चल रही थी। हम दोनों स्प्रिंग डोर पर निगाहें जमाए बैठे थे। अलग-अलग सन्दर्भों में। मेरे मस्तिष्क पर भारी दबाव पड़ रहा था। मैं एक नये प्रश्न से उलझ गया था। अस्तित्व के खतरे का प्रश्न।

सिर्फ पाँच-सात दफे शारीरिक दबाव के अन्तर्गत उसके पास जाने का नतीजा, सामूहिक तौर पर इतनी ध्यानाकर्षक और महत्वपूर्ण बात बन गई थी कि मेरे व्यक्तित्व के विलीनीकरण का खतरा हो गया था। मैं जिस प्रक्रिया को षड्यन्त्रजन्य और बलात् लादी जाने वाली समझ कर उससे निरंतर अलगाव को बनाए रखने के लिए सजग था, उससे

इतने इन्वाल्वमेंट के साथ जुड़ जाऊँगा, मैंने सोचा भी न था। अब मैं महायंत्र का अंग बन चुका था। प्रक्रिया का धुरा मजबूती से घूमे जा रहा था।

मैं कशमकश में पड़ गया था। लड़का या लड़की ? लड़की होने की सूरत में मैं अपने को निर्वीर्य घोषित होते हुए पाता। उन क्षणों में शक्ति-पूर्वक डोमिनेट करने के बावजूद यदि ऐसा होता तो, क्या यह मेरी कमजोरी न होती। वह तो गठरी की तरह पड़ी थी।

माँ बाहर आ गई। उसने बताया कि उसे अन्दर ले गए हैं। इस बार नहीं हुआ तो ऑपरेशन...।

मैंने बैंच पर बैठे-बैठे करवट बदलकर ऊपर देखा। दीवार पर परिवार नियोजन का पोस्टर लटक रहा था।

अब हम तीनों एक ही बैंच पर बैठे हुए थे। प्रतीक्षा में।

...अपने पत्र में तुमने जो इल्जाम लगाए हैं, वे ठीक हैं ! मैं उन्हें स्वीकार करती हूँ ! मैंने शादी के लिए मना कर दिया है। इसलिए नहीं कि मेरे मन में कोई बड़ी टूटन है, या मेरे अन्दर की लड़की मर गई है। यह तो मेरा एक फैसला है। जीवन जीने की शैली के बारे में।...मैं ही श्लथ कवितायें (तुम्हारे हिसाब से) लिखती हूँ। अपनी अतिरिक्त बोल्डनेस के लिए बदनाम हो रही कवियित्री मैं ही हूँ। जिसके रे में तुम्हारे साहित्यिक मित्रों ने मजेदार किस्से सुनाए होंगे।

मैं पार्टी में शामिल हो गई हूँ। बिल्कुल सही बात है। मैं अपनी कार में संदिग्ध व्यक्तियों को लिए घूमती हूँ। मैं ही मिल मजदूरों को हड़ताल के लिए उकसाने जाती हूँ।...तुमने लिखा है, मैं अपने को स्थापित करने के थोथे हथकंडे अपना रही हूँ। यह सच हो सकता है। अगर उस पार्टी का सक्रिय कार्यकर्ता होना इस किस्म की बात है, जिसके तुम बरसों कार्यकर्त्ता रहे हो। हालाँकि उन दिनों मैं बराबर तुम्हें पार्टी छोड़

देने को कहा करती थी, परन्तु मैं नहीं जानती कि तुमने पार्टी क्यों छोड़ दी। शायद सरकारी नौकरी की वजह से। नहीं तो अब तक तुम पॉलिट-ब्यूरो तक पहुँच गए होते।

हाँ, मैं वही हूँ जो मना किया करती थी। अब मैं इसमें क्यों शामिल हूँ इसकी वजह बता दूँ। दरअसल मुझे पार्टी ने या उसके कमज़ोर और दिखाऊ सिद्धान्तों और दावों ने नहीं खींचा। मुझे उसी सपाट चेहरे वाले तुम्हारे प्रिय पुरुष (भूतपूर्व) ने अपनी ओर खींच लिया है, जिससे कभी मुझे ऊब हुआ करती थी।

एक रात मैं उसके प्रति श्रद्धानत हो गई! वह बड़ी संघर्षमय रात थी। उस रात मुझे परम्पराओं और रूढ़ियों के भीमकाय दानव घेरे खड़े थे। उनके हाथों में शस्त्र थे। जिह्वा पर आचरण संहितायें। संघर्ष के प्रारम्भिक दौर में ही मुझे लड़खड़ाहट महसूस होने लगी। मैं बिना किसी सहारे के व्यवस्था और स्मृतियों से नहीं जूझ सकती थी। न ही अपना व्यक्ति-स्वातंत्र्य अक्षुण्ण बनाए रह सकती थी। विवाह के प्रबन्ध को स्वीकार कर लेने के लिए असहनीय दबाव पड़ रहा था, मुझ पर।

मेरी चेतना, शिक्षा, जागरुकता—सब निष्काम सिद्ध हुई। संस्कार अलग क्रोधित नागों की तरह फुंकार रहे थे। उस हताशा के अँधेरे को चीरकर मेरे मानस में वह महानायक उदित हुआ। मैंने उसे अपार-बलशाली ऋशर की तरह खर-पतवारों, खंडहरों और हिंस्र गुहावासियों को कुचलकर आगे बढ़ते पाया। वह अपनी दिशा में बढ़ता आ रहा था, पीछे एक प्रशस्त पथ छोड़ता। मुझे लगा यही मेरा मसीहा है, यही मुझे मजबूती दे सकता है, मेरे अपार कष्टों का निवारण कर सकता है। वह मेरी ओर देखते हुए मुस्करा रहा था, मानों कह रहा हो, साथी! घबराना मत। तुम्हारी जिंदगी में अँधेरा करने वाले इन दुर्दमनीय तत्वों से लड़ाई बराबर चल रही है! बढ़ आओ, इस कुचलकर बनाए हुए समतल से डरो मत, यहाँ सैकड़ों गमकते फूल खिलेंगे। हम उन्हें

खिलने देंगे।...याद है न, तुम जो कहा करते थे, 'लेट ए हंड्रेड फ्लावर्स ब्लौसम, एन्ड लेट ए हंड्रेड स्कूल्स ऑफ थॉट कान्टेंड !'

मैं जो कुछ उसे धारण करने के लिए कर सकती हूँ, कर रही हूँ। धारण करने से मेरा मतलब है कन्सीव करने से। समझे, मैं सृजन की संभावना के अपने शेष पुरुष को कन्सीव करने की इच्छुक हूँ। शायद नहीं कर सकूं। क्योंकि तुम छुट गए हो। तुम होते तो...तुम्हारे में मेहनतकशों का खून है। तुम्हारी पुश्तें श्रमजीवी रहती आई हैं।

तुम मेरे लिए दुखी हो। क्यों खामख्वाह अपना जी हल्का करते हो। मेरे लिए तुम वही हो। लोगों को कहने दो। मैं अपनी इस स्थिति पर खुश हूँ और संतुष्ट हूँ। मैं रात-बिरात मीटिंगों में जाती हूँ। मजदूर यूनियनों के जलसों में फायरी-स्पीचेज देती हूँ ! अपनी कार में उन्हें लिए फिरती हूँ जिन्हें विस्फोटक और विनाशकारी समझा जाता है! यहाँ तक कि, देशद्रोही। इससे क्या फर्क पड़ता है—तुम्हारे लिए अपने प्रिय जननेता की प्रिय पंक्तियाँ लिख रही हूँ।

'विद फ्राउनिंग ब्रोज आई डिस्डेनफुली डिफाई दि थाऊजैंड्स हू पोइंट एक्यूसिंग फिंगर्स एट मी; विद बोड़ हैड आइ मीकली सबमिट लाइक एन ऑक्स फॉर दि चाइल्ड टू राइड ऑन।'

मेरा खयाल है तुम्हारे सब सवालों का जवाब मैंने इस खत में दे दिया है।...खाई बढ़ती जा रही है।...

माँ के चेहरे पर वेदना की झाँई पड़ रही थी। पिताजी की आँखें शून्य में खोई थीं। पता नहीं चल रहा था, वे क्या सोच रहे हैं। मुझे ये दोनों किसी खास कोशिश में लगे हुए प्रतीत हुए। वे दोनों प्रार्थना करते हुए निरीह प्राणी।

मुझे थोड़ी देर पहले कमीनगी के एक आयाम में लग रहा था कि पिंजरे में तड़फड़ाते पंछी को बाहर आने का मौका मिल सकता है। उस

संदर्भ में मुझे ये दोनों जागरूक पहरुए की तरह बैठे हुए लगे। वे किसी कीमत पर मुझे महायन्त्र से बाहर नहीं देखना चाहते थे। मैं उस दर्द से कराहती हुई के लिए दुखी हूँ या नहीं, इससे बेगरज वे दोनों उसकी सारी वेदना अपनी संवेदनाओं के माध्यम से उठा लेना चाहते थे। यह उनके लिए विकल होने का चरम क्षण था। अन्दर लेबर रूम में संघर्ष चल रहा था।

अगर कुछ हो गया तो ये लुट जायेंगे। इनका किया-धरा पानी में मिल जाएगा। इस दिन के आने के लिए जिम्मेवार परिस्थितियों को पैदा करने में उन्होंने काफी कुछ दाँव पर लगा दिया था। जाने कितनी रस्में और रतजगे बीच में पड़े थे। मुझे उन दोनों पर करुणा उमड़ आई। इन दोनों ने बरसों पहले मुझे जना था। आज फिर मुझे जनने जितना कष्ट उठा रहे थे। क्योंकि सच कहूँ मैं कतई भी कष्ट में नहीं था। मुझे किसी भी संभावित परिणाम की परवाह नहीं थी। मैं तो तटस्थ दर्शक था। मुझे यकीन हो गया था कि जो कुछ हो रहा है, उसमें मेरा कोई हाथ नहीं है। मुझे जो करवाया गया, मैंने किया। अब ये भुगतें।

मैंने मन ही मन माँ से पछतावे भरे स्वर में कहा, 'माँ ! सोचो, आज अगर वैसा हुआ होता जैसा मैंने चाहा था तो क्या यह सब तुम्हें ही सहना पड़ता ? क्या इस समय सबसे अधिक व्यथित और घबराया हुआ व्यक्ति मैं नहीं होता ?...तुम उस चेहरे की पीड़ा अपने चेहरे पर ले रही हो जो मेरे लिए अजनबी है। अगर यह उसका चेहरा होता...तो क्या मैं इस तरह तमाशाई होता ? नहीं...माँ तुमने नहीं होने दिया।'

फिर मैं अपने ऊपर ठठा करके हँस उठा। इस बेचारी की क्या बिसात है ! इसका क्या कसूर है। यह तो मेरी तरह ही मजबूर और गुलाम है। हम सब जंजीरों में बँधे हुए लोग हैं। हमारी इच्छाएँ और अनिच्छाएँ क्या महत्व रखती हैं।

मैं तलछटी की तरह बैठता जा रहा था। मन स्थिर हो गया था।

मुझे उन सब सवालों के जवाब मिल गए थे जो अस्पताल के सीलन भरे गलियारे में रखी ठंडी बैंच पर बैठे-बैठे मुझे उकसा रहे थे। सब गुलाम हैं, सब मजबूर हैं, यह अनुभव बड़ा हल्का करने वाला साबित हुआ। मेरा दृष्टिकोण मानवीयता के दायरों में कैद होने लगा।

मैं बड़ी संजीदगी के साथ उसके बारे में सोच रहा था जो लेबर-रूम में टेबुल पर पड़ी घोर यातना को सह रही थी। जो जीती-जागती गठरी बनी हुई थी। कम-से-कम हमारे यहाँ आने के बाद से तो...। उसको हलाक होना पड़ता था। मेरी मर्जी पर और वह रो रही थी, सह रही थी।...चाहे जो भी रहा हो उसकी इस हालत के लिए मैं ही जिम्मेवार था। उसके अंदर मेरा ही अंश छटपटा रहा था।

कैसा होगा वह ! उसकी क्या भूमिका रहेगी ! मैं आंतरिक उन्मेष में बहता चला जा रहा था। मेरे पास पिताजी बैठे थे। मैं उनको मिला कर किसी से पूछने लगा था, क्या वह भी हमारी तरह ही होगा। मजबूर, घुटने टेक और गुलाम ?

मेरे मन में आशा की किरणें फूटने लगीं। हो सकता है, वह बहादुर निकले। सामर्थ्यशाली और त्राता। उसका युग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का स्वर्णिम युग हो सकता है। उसमें शामिल मैं, मेरे पिता और अन्य हमारे लोग तब उस पर गर्व नहीं करेंगे। मैं विह्वल हो उठा। मुझे अपने गुरुत्व का अहसास हुआ। मैं लड़ नहीं सकता मगर एक लड़ाकू इन्सान पैदा कर सकता हूँ।

ऐसा इन्सान जिसे वह कंसीव करना चाहती थी।

स्प्रिंग डोर खोलकर दाई बाहर आई। उसके हाथों में प्लास्टिक के दस्ताने थे। उसने माँ से कहा, 'लाओ क्या इनाम देती हो। लड़का हुआ है।...'

मेरी आँखें क्षण-भर को मुँद गई थीं। दिल की धड़कन बढ़ गई। भिंची हुई मुट्ठियों में कैद मेरी धारणा सिहर रही थी। वह पैदा हो गया। वह...हम सबका त्राता। वह दर्द से तड़पती औरत शाँत हो गई। माँ

का चेहरा धुल-पुँछ गया ।

पिताजी ने मुझे सोता हुआ समझकर कंधे पकड़कर झिंझोड़ा । 'ऐ सुना ! लड़का हुआ है । उठ...'

मैंने आँखें खोल दीं, मगर सपना नहीं टूटा। वह केंयाँ-केंयाँ करके रो रहा था ।